ओं नमः परमात्मने ।

श्रीभगवद्गीता ।

प्रथम खण्ड ।

मूल अन्वय भाषानुवाद

और

विस्तृत एवं अपूर्व भाषाभाष्य सहित ।

प्रथम अध्याय

और

द्वितीय अध्याय के १० श्लोक पर्य्यन्त ।

प्रकाशक श्रीस्वामी विवेकानन्द

सम्पादक श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल शास्त्रप्रकाशविभाग

काशी ।

प्रथम संस्करण ।

ALL RIGHTS RESERVED.

LUCKNOW:

PRINTED BY M. L. BHARGAVA, B. A., AT THE N K. PRESS.

1918.

मूल्य १) एक रुपया] [Price, Re. 1-0-0

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल ।

(हिन्दूजातिकी स्वजातीय विराट् धर्म्मसभा)

—:०:—

इस महासभा के राजा महाराजाओं से लेकर सर्व्वसाधारण हिन्दू नर नारीमात्र ही सभ्यश्रेणीभुक्त होकर धर्म्मसम्बन्धीय यथायोग्य लाभ उठा सके हैं । इस महासभा का प्रधान कार्य्यालय जगत्गंज बनारस (काशी) में है और प्रान्तीय कार्य्यालय भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में हैं । हिन्दू नर नारीमात्र को इस महासभा के सभ्य होना उचित है ।

श्रीमहामण्डलके साधारणसभ्य ।

जो धर्म्मप्रेमी हिन्दू नर नारी श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के साधारण सभ्य होना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें । दो २) वार्षिक देने पर वे सभ्यश्रेणीभुक्त होकर प्रमाणपत्र प्राप्त होंगे और श्रीमहामण्डल का मासिक मुखपत्र विना मूल्य प्राप्त करेंगे। अधिकन्तु मृत मेम्बरों के वारिसों को श्रीमहामण्डल के समाज हितकारी कोष से समुचित आर्थिक सहायता प्रदान करके श्रीमहामण्डल हिन्दू सामाजिक शक्ति और सहानुभूति व प्रेम की पुष्टि करता है ।

पत्राचार का पता :—

श्रीमान् प्रधानाध्यक्ष

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल

प्रधानकार्य्यालय

जगत्गंज-बनारस ।

ओँ नमः परमात्मने ।

श्रीभगवद्गीता ।

प्रथम खण्ड ।

मूल अन्वय भाषानुवाद

और

विस्तृत एवं अपूर्व्व भाषाभाष्य सहित ।

प्रथम अध्याय

और

द्वितीय अध्याय के १० श्लोक पर्य्यन्त ।

प्रकाशक श्रीस्वामी विवेकानन्द

सम्पादक श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलशास्त्रप्रकाश विभाग

काशी ।

प्रथम संस्करण ।

All Rights Reserved.

मूल्य १) एक रुपया ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलविषयक सम्वाद जानना हो तो निम्न लिखित पते से पत्रव्यवहार करें।

प्रधानाध्यक्षः—
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल
प्रधान कार्यालय
महामण्डल भवन, जगत्गंज
बनारस।

श्रीहरिः ।

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दीभाष्य

का

विज्ञापन ।

श्रीमद्भगवद्गीता जो उपनिषदों की सार, वैदिक विज्ञान की रहस्य-प्रतिपादक, पुराणों की शिरोमणि और अध्यात्मविद्या की खानि है उस पर अनेक भाष्य अनेक टीकाएँ और अनेक भाषानिबन्ध हैं और होंगे इसमें सन्देह ही क्या है । विशेषतः इस ग्रन्थ की भूमिका के पाठ करने से पाठकों को विदित होसकेगा कि जब श्रीमद्भगवद्गीता समधिभाषा है तो किस प्रकार से उसके अनेक प्रकार के भाष्य और टीका होनी सम्भव हैं । अवाङ्मनसगोचर श्रीभगवान्का परमतत्त्व जिस प्रकार दुर्ज्ञेय है, उनका वाक्यरूपी गीताशास्त्र भी उतना ही दुर्ज्ञेय है इसलिये गीताकी टीकाओंका भी अन्त नहीं है, मतमतान्तरोंका भी अन्त नहीं है और समालोचनाओंका भी अन्त नहीं है ।

मनुष्यकृत पौरुषेय ग्रन्थोंके साथ अपौरुषेय भगवद्वाक्योंका यह अनादिसिद्ध भेद है कि मनुष्य-बुद्धि परिच्छिन्न-भावग्रस्त होनेसे उस बुद्धिके विलासरूपी ग्रन्थ भी किसी एकदेशीय भावको मुख्य रखकर विरचित होते हैं । अतः इस प्रकारके ग्रन्थ सकल देश काल तथा अधिकारीके लिये उपयोगी नहीं हो सकते परन्तु अपौरुषेय भगवद्वाक्यों में असम्पूर्णता नहीं है । श्रीभगवान् देश, काल व वस्तुके द्वारा

अपरिच्छिन्न हैं इसलिये उनके वाक्यसमूह सकल देश, सकल काल और सकल अधिकारियों के लिये समानरूपसे कल्याणप्रद हुआ करते हैं। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु श्रीभगवान्‌की नित्य सत्ता सर्वत: पूर्ण होने से उनके वाक्यसमूहमें भी वही पूर्णता भरी रहती है।

श्रीभगवान्‌की पूर्णता उनके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी तीनों भावोंमें है। उनका अध्यात्मभाव मायासे अतीत, त्रिगुणतरङ्ग-हीन, निर्गुण निराकार परब्रह्म सत्ता है। उनका अधिदैव भाव, गुण-मयी मायाका ईक्षणकारी सर्गस्थितिप्रलय–विधाता सगुण ब्रह्म ईश्वर है और उनका अधिभूत भाव अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमण्डित विराट् है। कार्य कारणका ही विस्तारमात्र होने से कारण में जो भाव होता है कार्यके प्रत्येक अङ्गमें भी वही भाव होता है। इसी कारण जगत्का-रणरूपी ब्रह्ममें अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव होनेसे सृष्टिके प्रत्येक पदार्थमें तीन तीन भाव देखे जाते हैं। और इसी अकाट्य आदि नियमके अनुसार भगवद्‌वाक्यरूपी वेद व श्रीमद्भगव-द्गीतामें भी तीनों भावोंका सामञ्जस्य विद्यमान है।

वेदका ज्ञानकाण्ड उनके अध्यात्मभावका प्रकाशक है, उपासनाकाण्ड अधिदैवभाव का प्रकाशक है और कर्मकाण्ड अधिभूतभावका प्रकाशक है। इन तीनों काण्डों से पूर्ण होकर ही भगवद्‌वाक्यरूपी वेद पूर्ण हैं और इसी पूर्णताके कारण ही वेद सकल देश व सकल कालमें सकल अधिकारियोंके लिये समानरूपसे कल्याणप्रद है। इसी प्रकार श्रीभग-वान्‌के मधुर मुखकमलसे नि:सृत गीता भी कर्म, उपासना व ज्ञानके सामञ्जस्य के द्वारा पूर्ण होकर सकल देश, सकल काल व सकल

अधिकारियोंके लिये पूर्ण कल्याणप्रद है इसमें सन्देह नहीं है और यही कारण है कि गीतारत्नाकरको मथन करके सकलदेशके लोग ही अपने अपने उपयोगी रत्नोंकी प्राप्ति कर रहे हैं।

श्रीभगवान्‌के अंशावतार-चरित्रके साथ पूर्णावतार-चरित्रका यह भेद है कि अंशावतारके साथ प्रकृतिके किसी आंशिक व सामाजिक भावके कल्याणका सम्बन्ध रहता है। इसलिये उनके कार्य प्रायः एक देश व एक कालव्यापी होते हैं। परन्तु पूर्णावतारके कार्यों के साथ सकल देश, सकल काल व सकल अधिकारियोंके कल्याणका सम्बन्ध रहता है। इसलिये उनके वाक्योंमें जीवके सर्वविधपूर्णताप्रद भाव भरे रहते हैं। जीवकी पूर्णता अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत इस प्रकारसे त्रिविध पूर्णता द्वारा होती है और यह त्रिविध पूर्णता ज्ञान, उपासना व कर्मके द्वारा साध्य है। अतः श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र जी के वाक्योंमें कर्म उपासना व ज्ञानका सामञ्जस्य रहेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। पूर्ण भगवान्‌के वाक्यरूपी श्रीगीताजीमें केवल कर्म, उपासना व ज्ञान की अपूर्व स्थितिमात्र ही है सो नहीं, अधिकन्तु सर्वत्र एकरस व पूर्ण भगवान्‌के वाक्य होनेके कारण उसमें कर्म, उपासना व ज्ञानकी अपूर्व समता विद्यमान है। गीताके प्रत्येक अध्याय तथा प्रत्येक श्लोकमें त्रिभावका सन्निवेश होने पर भी प्रधानतः प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मकाण्ड, द्वितीय छः अध्यायोंमें उपासनाकाण्ड व अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डका वर्णन किया गया है। उपासना-काण्डको कर्म व ज्ञानकाण्ड के बीचमें रख कर कर्म व ज्ञानका स्वाभाविक विरोधपरिहार व दोनोंमें रसके संचार द्वारा कर्म, उपासना

व ज्ञानका अपूर्व सामञ्जस्य विधान किया गया है; जो सिवाय अपौरुषेय भगवद्वाक्यके किसी पौरुषेय (मनुष्यकृत) ग्रन्थमें कदापि होना सम्भव नहीं है । यही श्रीभगवद्वाक्यरूपी गीताजीकी लोकोत्तर चमत्कारिता है ।

अब विचार करनेकी बात यह है कि जब गीतामें कर्म, उपासना व ज्ञानका सामञ्जस्य है तो भिन्न भिन्न आचार्योंने उसे भिन्न भिन्न भावोंसे क्यों ग्रहण किया है ? इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु अपूर्ण अत: एकदेशीय होती है वह केवल एक भावमें ही ग्रहण की जा सकती है । यदि गीता केवल कर्मयोगशास्त्र, या उपासनायोगशास्त्र अथवा ज्ञानयोगशास्त्र होती तो उसी एक भावमें ही ग्रहण की जा सकती, उसमें एकाधिकभाव होना असम्भव हो जाता । परन्तु गीता पूर्णभगवान्के मुखसे नि:सृत होने के कारण पूर्णभावयुक्त व देशकाल से अपरिच्छिन्न सत्तायुक्त है । इसलिये जिस देश काल पात्रके अनुसार जिस आचार्यने गीतामेंसे जो भाव लेना युक्तियुक्त समझा, उन्हें श्रीगीताजीसे वही भाव प्राप्त हुआ है । और उस प्रकार के वाक्यों द्वारा उन्होंने अपने अपने सम्प्रदाय और अपने अपने देशकालका यथेष्ट कल्याण साधन किया है ।

इस विषयकी मीमांसाके लिये सबसे प्रथम श्रीभगवान् शंकराचार्य जीका नाम उल्लेख करने योग्य है । श्रीभगवान् शंकराचार्यजी महाराज ने भारतवर्षमें सनातनधर्मका पुन: प्रचार व वर्णाश्रममर्यादाकी पुन: प्रतिष्ठाके लिये जो भारतवर्षके चार दिशाओंमें चार मठ स्थापन करते हुए चार धर्मराज्यों की अनुशासन-व्यवस्था बाँधी थी उससे उनकी

निष्काम कर्मयोग प्रवृत्तिका परिचय भली भाँति मिलता है । इसी प्रकार उन्होंने अपने जीवनमें अनेक स्तोत्रावली प्रणयन करके सगुण-पञ्चोपासनाकी समता स्थापन की थी और साथही साथ अनेक देव देवियोंकी उपासना करते हुए अपने पराभक्तियुक्त उपासनाभावका परिचय भी दिया था । और इसी प्रकार उन्होंने ज्ञानको प्रधान रख कर जो प्रस्थानत्रयी निर्माण की उससे उनकी ज्ञानसम्बन्धीय पूर्णता प्रकट होती है। श्रीभगवान् शङ्करके चरित्रमें इस प्रकारसे कर्म, उपासना व ज्ञानकी समता होने पर भी पूर्वकथित कारणानुसार देशकालके विचारसे उन्होंने श्रीगीताजीके ज्ञानप्रधान भावको ही लक्ष्यमें रख कर श्रीगीताजी पर भाष्य किया था और उसी प्रकार अन्यान्य अनेक पूज्यचरण साम्प्रदायिक वैष्णवाचार्योंने श्रीगीताजीके उपासनाप्रधान भावको लक्ष्य करके अलग अलग भाष्य किये हैं । और उसी तरहसे इस समय यदि श्रीमान् तिलक महोदयने पूर्णभावमयी श्रीगीताजीके कर्मप्रधान भावको लेकर महाराष्ट्र भाषा में टीका की हो तो इसमें दोष की बात कोई नहीं है । "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" भक्तवत्सल भगवान् भक्तोंकी भिन्न भिन्न रुचि व प्रकृतिवैचित्र्यके अनुसार सभीके हृदयाधिष्ठित होकर अपना प्रकाश व ईप्सितफल प्रदान करते हैं । अतः श्रीभगवानकी कृपासे वर्त्तमान देशकालमें जो कुछ हुआ है सो ठीक ही है ।

इस समय श्रीमद्भगवद्गीता पर एक ऐसे भाष्यग्रन्थ की आवश्यकता थी कि जो सर्व्वधर्म्म और सर्व्वअधिकार के समन्वय से युक्त हो । सो श्रीभगवान् की कृपा से यह ऐसाही अपूर्व्वभाष्य प्रणीत

हुआ है । इसमें अध्यात्म अधिदैव अधिभूत तीनों भावों का स्वतन्त्र स्वतन्त्र प्रकाश कर दिया गया है । इसमें कर्म्म उपासना ज्ञान तीनों का समन्वय पूर्णरीत्या रक्खा गया है । श्रीभगवद्गीता का शब्दमात्र ही किस प्रकार अपूर्व्वभावों से पूर्ण है और उसका प्रत्येक श्लोक किस प्रकार भावत्रयसे युक्त है सो इस भाष्य में यथास्थान में दिखाने का प्रयत्न पूज्यपाद ग्रन्थकर्त्ता ने किया है । इसके द्वारा धर्म्मपिपासु और अध्यात्मराज्य के पथिक को विशेष सहायता मिलेगी इस आशा से यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जाता है ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के प्रधान व्यवस्थापक श्री १०८ गुरुदेव की आज्ञानुसार श्रीमहाराज क अन्यान्य ग्रन्थों के अनुसार इस ग्रन्थ का भी स्वत्वाधिकार दीन सेवा के उद्देश्य से श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा-दानभंडार को अर्पित किया गया है ।

वसन्तपञ्चमी
संवत् १९७४ विक्रमी
काशीधाम

दयानन्द ।

प्रस्तावना।

मनुष्यसमाज में जिस प्रकार शिल्पोन्नति से उसके बहिर्जगत् की उन्नति जानी जाती है उसी प्रकार दर्शनशास्त्र की उन्नति से उसके अन्तर्जगत् की उन्नति समझी जाती है। जिस मनुष्यसमाज ने जब जितना शिल्पोन्नति साधन किया है वह मनुष्यसमाज उस समय उतनेही परिमाण से बहिर्जगत् सम्बन्धीय उन्नति के पथ में अग्रसर हुआ है। शिल्प की उन्नति के साथही साथ मनुष्य समाज में पदार्थविज्ञान (सायेन्स) की उन्नति हुआ करती है। पदार्थविज्ञान कभी भी सर्वोच्चस्थान अधिकार नहीं करता है तथापि उसकी उन्नति के परिमाण के अनुसारही मनुष्यसमाज में बहिर्जगत् की उन्नति का परिमाण अनुमित हुआ करता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतीन्द्रिय अन्तर्राज्य के अर्थ दर्शनशास्त्रही एकमात्र अवलम्बन है। स्थूलराज्य से अतीत अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण सूक्ष्मराज्यरूप अनन्त पारावार के लिये दर्शनशास्त्रही ध्रुवतारा स्वरूप है। सूक्ष्मराज्य में प्रवेश करने की इच्छा करनेवाला साधक केवल दर्शनशास्त्रों के साहाय्य से ही अन्तर्राज्य (सूक्ष्मराज्य) में प्रवेश करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार स्थूलनेत्रविहीन व्यक्ति स्थूलजगत् का कुछ भी नहीं देखसक्ता, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र को न जानने वाला व्यक्ति भी सूक्ष्मजगत् के विषयों को कुछ भी नहीं समझ सक्ता। अतएव इन सब बातों से यह जानना चाहिये कि जो शास्त्र सूक्ष्मजगत् का वास्तविक तत्त्व समझा देवे उसीको दर्शनशास्त्र कहते हैं।

पृथिवी का इतिहास पढ़ने से जाना गया है कि जब जो मनुष्यजाति आध्यात्मिक जगत् में अग्रसर हुई है तबही उनमें दर्शनशास्त्र की आलोचना प्रारम्भ हुई है। वैदिक धर्मावलम्बी मनुष्यसमाज में जिस प्रकार दर्शनशास्त्रों की उन्नति हुई है, पृथिवी की अन्य किसी जाति में भी उस प्रकार उन्नति नहीं हुई है। सनातनधर्मावलम्बी मुनिगण ने योगसाधन के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त करके तत्पश्चात् अन्तर्जगत् में प्रवेश करने की चेष्टा की थी। पूज्यपाद महर्षिगण ने पहिले तप और योग की सहायता से अन्तर्दृष्टि प्राप्त करके तब जगत् के कल्याणार्थ सूत्र बनाकर पृथक् पृथक् दर्शनशास्त्र प्रकाशित किये थे। उन्होंने पहिले अन्तर्राज्य में आधिपत्य स्थापन करके पीछे जिज्ञासुगण के अर्थ

उसके द्वार को उघाड़ने के अभिप्राय से वैदिक दर्शनशास्त्र प्रणयन किये हैं। परन्तु पृथिवी की अन्यान्य शिक्षित जातियों में इस प्रकार होने की सम्भावना न होने से उन्होंने दूर से अन्तर्राज्य का यत्किञ्चित् आभास पाकर उस विषय के वास्तविक सत्य को अन्वेषण करने की चेष्टा की है। पृथिवी की सकल शिक्षित जातियें जिस प्रकार बहिर्जगत् का आश्रय ग्रहण करके सूक्ष्मजगत् में प्रवेश किया करती हैं, पूज्यपाद महर्षिगण ने वैसा न करके प्रथम अन्तर्जगत् का विस्तारित ज्ञान प्राप्त करके तब सर्वसाधारण के कल्याणार्थ उसको बहिर्जगत् में प्रकाशित करने का यत्न किया था। इसी कारण वैदिक दर्शनशास्त्र सात अङ्गों में विभक्त होकर सम्पूर्ण हुए हैं। परन्तु पृथिवी की अन्यान्य शिक्षित जातियों के दर्शनशास्त्र वैसे न होकर वैचित्र्यमय और असम्पूर्ण रहे हैं।

सृष्टितत्त्व की पर्य्यालोचना करने से सहजही जाना जासक्ता है कि त्रिगुणमयी प्रकृति के राज्यमें सर्वत्रही तीन तीन विभाग विद्यमान हैं, यथाः—वात पित्त और कफरूपिणी शरीररक्षा की त्रिविधशक्ति, मनुष्य की त्रिविध प्रकृति, त्रिविध कर्म इत्यादि। इसी प्रकार सात रीति के भावों के अवलम्बन से सृष्टिराज्य के सप्तधातु, सप्तवर्ण, सप्तदिवस, सप्तऊर्द्ध्वलोक, सप्तअधोलोक, सप्तरत्न, सप्त अज्ञानभूमि, सप्तज्ञानभूमि, इत्यादि सप्तविध विभाग सकल स्थानों में ही परिलक्षित होते हैं। उक्तरीति से सप्तज्ञानभूमियों को अतिक्रम करके क्रमशः परमपद लाभ करने के अर्थ जिस वैदिक दर्शन विज्ञान का आविर्भाव हुआ है वह भी इन सप्त ज्ञानभूमियों के अनुसार ही सप्तभागों में विभक्त है। इन सात दर्शनों में से दो पदार्थवाददर्शन, दो सांख्यप्रवचन दर्शन, और तीन मीमांसा दर्शन हैं। आधुनिक पुस्तकों में जो षड्दर्शन नाम देखा जाता है वह केवल जैन और बौद्धों के अनुकरण से प्रचारित हुआ है, क्योंकि उनके दर्शनशास्त्र षड्दर्शन नाम से अभिहित होते थे इसी से नास्तिकदर्शन के अनुकरण से वैदिक षड्दर्शन नाम प्रचारित हुआ था। किसी भी आर्षग्रन्थ में षड्दर्शन शब्द नहीं देखने में आता है। विशेषतः बहुत शताब्दियों से मीमांसादर्शन के सब सिद्धान्त ग्रन्थ लुप्त होजाने से मध्यमीमांसा दर्शन का एक भी सिद्धान्तग्रन्थ मिलता नहीं था। इन सब कारणों से ही भ्रमात्मक षड्दर्शन शब्द हमारे साहित्य में क्रमशः प्रचलित हो पड़ा है। वास्तव में न्याय और वैशेषिक ये दोनों पदार्थवाद के दर्शन, योग और सांख्य ये दोनों सांख्य प्रवचन दर्शन और वेदोक्त कर्म उपासना एवं ज्ञान इन काण्डत्रयों के अनुसार कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा (भक्तिमीमांसा) तथा ब्रह्ममीमांसा ये तीनों मीमांसादर्शन, इस प्रकार सप्त दर्शन स्वतःसिद्ध हैं।

दर्शन ग्रन्थों के अभाव और दार्शनिक शिक्षा के लोप होजाने से सनातन धर्म्म की वर्त्तमान दुर्गति हुई है। आजकल स्वधर्म्म में अविश्वास, परधर्म्म ग्रहण में इच्छा, सदाचारवर्जन, पूज्यपाद महर्षिगण के आदेशों का उपहास, वेद और पुराणों पर अश्रद्धा, साम्प्रदायिक विरोध, अलौकिक अन्तर्राज्य पर अविश्वास, परलोक के भय का राहित्य, देवदेवी और ऋषि पितरादि के अस्तित्व में सन्देह, कर्म्मकाण्ड पर अनास्था, साधु और ब्राह्मणों पर अभक्ति, वर्णाश्रमधर्म्म की उपेक्षा, जगत् को पवित्र करनेवाले आर्य्य नारियों के धर्म्म के मूलोच्छेद में प्रवृत्ति, जप ध्यानादि साधनमार्ग पर अरुचि इत्यादि आर्य्यत्व नाशकारी जो प्रबलदोष उत्पन्न हुए हैं यह केवल वैदिकदर्शनों की शिक्षा के अभाव से ही हुए हैं इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

न्यायदर्शन की शिक्षा इस समय सम्पूर्णरूप से नहीं होती है। पहिले की तरह इस समय प्राचीन न्याय की वास्तविक शिक्षापद्धति नहीं है, यह कहने से भी अत्युक्ति नहीं होगी। इस समय प्राचीन न्याय के स्थान में नवीन न्याय का ही अधिक प्रचार देखाजाता है।

वशेषिकदर्शन के उपयोगी आर्ष भाष्य के अभाव होने से उसकी चर्चा एक प्रकार उठही गई है ऐसा कहने से भी चल सक्ता है।

योग दर्शन पहिले तो कठिन शास्त्र है, और उसके साथ अन्तर्जगत् का अतिघनिष्ठ सम्बन्ध होने से उसकी यथार्थरूप से अध्ययन और अध्यापन की प्रथा एकबारही उठगई है। क्योंकि योगदर्शन के आचार्य्य को योगी होना आवश्यक है। किन्तु इस समय उस प्रकार के वास्तविक योगी के अभाव होने से ही इस दर्शन की यथार्थ शिक्षा का अभाव होपड़ा है।

सांख्यदर्शन की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। इस समय कोई उसको आधुनिक दर्शन कहते हैं, कोई उसको प्रक्षिप्त विषयपूर्ण कहकर घृणा करते हैं, और कोई कोई नास्तिक दर्शन कहकर उसका परिचय देते हैं। कई हज़ार वर्षों से उसका आर्ष भाष्य न मिलने से और आजकल जो उसका भाष्य मिलता है वह जैनधर्म्मावलम्बी आचार्य्य का बनाया हुआ होने से ही इस प्रकार की विशृङ्खलता का कारण उपस्थित हुआ है। विज्ञानभिक्षु जैनाचार्य्य वा बौद्धाचार्य्य थे इसमें अब कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि उन्होंने जिस भाव से सांख्यदर्शन को अपने भाष्य द्वारा प्रतिपादन करने की चेष्टा की है उससे स्पष्टही ज्ञात होता

है कि वे सनातन धर्म्मावलम्बी नहीं थे। उन्होंने अप्रासङ्गिक रीति से वैदिकी हिंसा की निन्दा, लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्ष विज्ञान को परिवर्तन करते हुए ईश्वर की सिद्धि के सम्बन्ध में अनुमित सिद्धान्त का प्रतिपादन, शास्त्रोक्त देवतादि का खण्डन आदि जो किया है उसको पढ़ने सेही निरपेक्ष दार्शनिक व्यक्तिमात्र ही एक वाक्य से स्वीकार करेंगे कि वे सनातनधर्म्म के विरोधी अन्य किसी सम्प्रदाय के आचार्य्य थे। अबतक सांख्यदर्शन पर जो सब टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं उनके बनानेवालों ने जैनाचार्य्य विज्ञानभिक्षु के मत का अनुसरण करके ही वे सब बनाई हैं।

दर्शनशास्त्र का वास्तविक प्रचार करना होगा तो प्राचीन न्याय दर्शन का अधिक प्रचार, और ऋषियों के अभिप्रायानुसार भाष्य के साथ वैशेषिक दर्शन का प्रचार विशेष आवश्यक है। श्रीभगवान् व्यासकृत भाष्य का अवलम्बन करके योगी महापुरुषगण के द्वारा प्रणीत विस्तृत भाष्य के साथ योग दर्शन भी प्रचारित होना आवश्यक है। सांख्यदर्शन का भाष्य सूत्रकार के अभिप्राय के अनुसार तत्त्वज्ञानी व्यक्तियों की सहायता से नूतनपद्धति से प्रणीत होकर प्रचारित होना आवश्यक है।

तीनों मीमांसा दर्शनों में घोर विप्लव उपस्थित हुआ है। पूज्यपाद महर्षि जैमिनिकृत कर्म्म मीमांसादर्शन अतिवृहत् होने पर भी वह असम्पूर्ण और एकदेशी है। जैमिनिदर्शन में केवल वैदिक कर्म्मकाण्ड का विज्ञान सुन्दररूप से वर्णित है किन्तु वर्त्तमान समय में वैदिक यागयज्ञ का प्रचार प्रायः लुप्त हो जाने से इस दर्शनशास्त्र द्वारा इस समय किसी प्रकार के हमारे विशेष उपकार के सिद्ध होने की सम्भावना नहीं है।

धर्म्म क्या है, साधारण और विशेषधर्म्म में भेद क्या है, वर्णधर्म्म क्या है, आश्रम धर्म्म क्या है, पुरुषधर्म्म क्या है, नारी धर्म्म क्या है, जन्मान्तर वाद का विज्ञान क्या है, परलोक में गति किस प्रकार होती है, संसार का रहस्य क्या है, षोडश संस्कार का विज्ञान क्या है, संस्कार शुद्धिद्वारा किस प्रकार क्रिया शुद्धि होती है, उद्भिज्जादि योनियों से मनुष्य योनि में किस प्रकार जीव क्रमशः प्रवेश करता है, मनुष्य पुण्यकर्म्म करके किस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त होता है, कर्म के भेद कितने हैं, क्रियाशुद्धि द्वारा मनुष्य किस प्रकार मुक्त होता है इत्यादि कर्म्म मीमांसा का प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार का मीमांसा दर्शन का सिद्धान्त ग्रन्थ बहुत काल से लुप्त अवस्था में

था। इस समय श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के नेताओं के यत्न से एक विस्तृत सूत्रग्रन्थ प्राप्त हुआ है और उसका भाष्य भी संस्कृत भाषा में बनरहा है।

कर्म्ममीमांसा यद्यपि लुप्त हुई थी तथापि उसका एक बृहत् ग्रन्थ पाया जाता था किन्तु दैवीमीमांसा (मध्यमीमांसा वा भक्तिमीमांसा) का कोई ग्रन्थ भी नहीं मिलता था। इस समय उसका भी एक सिद्धान्तभूत सूत्रग्रन्थ मिला है और उसका संस्कृत भाष्य प्रणीत होकर प्रकाशित होगया है। भक्ति किसको कहते हैं, भक्ति के भेद कितने प्रकार हैं, उपासना के द्वारा मुक्ति किस प्रकार सम्भव है, भगवान् का आनन्दमय स्वरूप क्या है, भगवान् के ब्रह्म ईश और विराट् इन तीन रूपों में भेद क्या है, भक्ति के प्रधान प्रधान आचार्य्य ऋषिगण के स्वतन्त्र स्वतन्त्र मत क्या है, सृष्टि का विस्तृत रहस्य क्या है, अध्यात्म सृष्टि क्या है, आधदैव सृष्टि क्या है, अधिभूत सृष्टि क्या है, ऋषि किसको कहते हैं, देवदेवी किसको कहते हैं, पितृ किसको कहते हैं, उनके साथ जगत् का सम्बन्ध क्या है, अवतार कैसे होते हैं, अवतार कितने प्रकार के हैं, भक्ति के द्वारा मुक्ति किस प्रकार होसक्ती है, चार प्रकार के योग का लक्षण और उपासना का भेद कितने प्रकार का है, उपासना और भक्ति के आश्रय से साधक किस प्रकार मुक्तिलाभ करने में समर्थ होता है कर्म्म मीमांसा का अन्तिम लक्ष्य क्या है, दैवीमीमांसा का अन्तिम लक्ष्य क्या है, एव ब्रह्ममीमांसा का अन्तिम लक्ष्य क्या है इत्यादि विषय इस दर्शन शास्त्र में वर्णित है। इसी दर्शनशास्त्र के लोप होने से योग और उपासना इन दोनों की एकता सिद्ध करने के विषय में उन्नत ज्ञानियों को भी विमोहित होते हुए देखा गया है।

सप्तम ज्ञानभूमिका अन्तिम दर्शन ब्रह्ममीमांसा है इसको वेदान्त कहाजाता है। उसका अति उत्तम भाष्य श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्य प्रणीत पाया जाता है। किन्तु इतने दिनतक दैवीमीमांसा दर्शन के लुप्त अवस्था में रहने से और उपासक सम्प्रदायों के अद्वैतवाद को द्वैतवाद में परिणत करने की चेष्टा करने से वेदान्त विचार में अनेक असुविधाएँ उत्पन्न हुई हैं। यदि मध्यमीमांसा बीच के समय में विलुप्त न होती तो द्वैत और अद्वैतवाद का विरोध कदापि संघटित न होता।

न्यायदर्शन का जो आर्ष भाष्य मिलता है वह अतीव विस्तृत है ही। वैशेषिकदर्शन का विस्तृत भाष्य संस्कृत में प्रणीत होरहा है । योगदर्शन का

विस्तृत भाष्य पूर्व लिखित रीति का प्रणीत होगया है और उसका कुछ अंश विद्यारत्नाकर नामक संस्कृत मासिकपत्र में प्रकाशित हुआ है।

सांख्यदर्शन का संस्कृत भाष्य भी पूज्यपाद महर्षिगण के मत के अनुसार प्रणीत होगया है और उसका कुछ अंश उक्त पत्र में प्रकाशित भी हुआ है, इस भाष्य को पढ़कर शिक्षित मण्डली विस्मित हुई है, और सांख्यदर्शन आस्तिक दर्शन है यह सबही एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। कर्म्ममीमांसा दर्शन सभाष्य संस्कृत भाषा में शीघ्र प्रकाशित होगा। दैवीमीमांसा दर्शन अर्थात् मध्यमीमांसा दर्शन का भाष्य सम्पूर्ण होगया है और उसके तीनपाद सभाष्य संस्कृत भाषा में उक्त पत्रिका में प्रकाशित होचुके हैं। वेदान्तदर्शन का समन्वय भाष्य भी संस्कृत मे प्रकाशित होगा। प्राचीन आर्य्यगण का मत ठीक ठीक उद्धृत करके और अन्यान्य निम्नज्ञानभूमियों के अधिकारों को उन समस्त दर्शनोक्त ज्ञानभूमियों के ठीक ठीक विज्ञान के अनुसार प्रतिपादन करके इस वेदान्त भाष्य को सर्वाङ्गसुन्दर करने की चेष्टा कीजायगी। इन सात प्रकार के दर्शन शास्त्रों का ठीक ठीक प्रचार और इनकी यथाविधि शिक्षा देने के अर्थ इन सातों दर्शनों के संस्कृत भाष्य प्रणयन का कार्य्य बहुत कुछ अग्रसर हो गया है। इस समय हिन्दीभाषा के पाठकवर्ग के अर्थ यह सब दर्शन ग्रन्थ सरल हिन्दीभाषा में विस्तृत भाष्य के साथ क्रमशः प्रकाशित करने की पूरी इच्छा है। और साथही साथ श्रीमद्भगवद्गीता का एक अति उत्तम भाष्य (जिस में श्रीगीताजी के अध्यात्म अधिदैव अधिभूत ये तीनों स्वरूप दिखाये जायँ) प्रकाशित करना निश्चय किया गया है।

हमारे सुहृद्गण में से अनेकों ने परामर्श दिया है कि ज्ञानभूमि के क्रम के अनुसार पहले न्याय और वैशेषिकादि दर्शन प्रकाशित होना उचित है। किन्तु हमने विचार करके देखा है कि जब इससे पहले हो से ये दर्शन हिन्दी में सामान्य रूप से प्रचारित हैं तब इनका विस्तृत भाष्य के साथ प्रचार यद्यपि आवश्यक है तथापि पहलेही इनको प्रकाश करने से पाठकों का तादृश चित्त विनोदन नहीं होगा, दूसरे दैवीमीमांसा आदि दर्शन ग्रन्थों का प्रचार जब बिलकुल ही नहीं था तो इनके पहिले प्रचारित होने से पाठकों की आनन्द, उत्साह और बहुत कुछ अभिज्ञता वृद्धि की विशेष सम्भावना है, तीसरे वैदिक दर्शनशास्त्र प्रचार के कार्य्य में जब हम प्रवृत्त हुए हैं तो प्रथम ही भगवद्भक्ति प्रकाशक दैवीमीमांसा दर्शन और भगवद्गीतारूपी भगवद्वाक्य का प्रकाश अत्यन्त कल्याणकर है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

उपर्युक्त सात वैदिकदर्शन ग्रन्थ प्रकाश के साथ साथ हम योग के क्रिया सिद्धांश सम्बन्धीय पांच ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित करने की इच्छा करते हैं। उपासना का मूलभित्तिरूप योग का क्रिया सिद्धांश चारभागों में विभक्त है। यथाः—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन चारों प्रणालियों के अलग अलग अङ्ग, अलग अलग ध्यान और अलग अलग अधिकार निर्णीत हैं। नाम और रूप के अवलम्बन से जो साधन प्रणाली निर्णीत हुई है उसको मन्त्रयोग कहते हैं। मन्त्रयोग सोलह अङ्गों में विभक्त है और उसके ध्यान को स्थूलध्यान कहते हैं।

स्थूलशरीर की सहायता से चित्तवृत्ति निरोध करने की जो प्रणाली है उस को हठयोग कहते हैं। हठयोग सात अङ्गों में विभक्त है और हठयोग का ध्यान ज्योतिर्ध्यान नाम से अभिहित है।

लययोग और भी अधिक उन्नत अवस्था का साधन है। जगत् प्रसविनी कुल कुण्डलिनी शक्ति जो सकल शरीर में ही विद्यमान है उसी शक्ति को गुरूपदेशानुसार जाग्रत् करके और सहस्रार में लय करके चित्तवृत्ति निरोध करने की जो प्रणाली है उसको लययोग कहते हैं। लययोग नौ अङ्गों में विभक्त है और उसके ध्यान का नाम बिन्दु ध्यान है।

योगप्रणालियों में सर्वश्रेष्ठ योगप्रणाली का नाम राजयोग है। उल्लिखित त्रिविध साधक को उन्नत अवस्था में राजयोग की सहायता लेनी ही पड़ती है। केवल विचारशक्ति द्वारा चित्तवृत्ति निरोध करने की जो प्रणाली है उसको राजयोग कहते हैं। राजयोग सोलह अङ्गों में विभक्त है और उसका ध्यान ब्रह्मध्यान नाम से अभिहित होता है। उपर्युक्त तीन योगप्रणालियों की समाधि को सविकल्प समाधि कहते हैं किन्तु राजयोग की समाधिही निर्विकल्प समाधि है।

उपर्युक्त चार प्रकार की योगप्रणाली के अङ्ग और उपाङ्ग वेद, आर्षसंहिता, पुराण एवं तन्त्रादि में अनेक स्थानों में ही देख पड़ते हैं। किन्तु अधिकारानुसार इन प्रत्येक की क्रियाएँ अलग अलग और यथाक्रम किसी ग्रन्थ में भी नहीं मिलती हैं। प्राचीन समय में गुरु और शिष्य सम्प्रदाय का अधिकार उन्नत था इसीसे ही इस प्रकार साधन विभाग की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु वर्त्तमान समय में इन चारों साधन प्रणालियों के अलग अलग सिद्धान्त

ग्रन्थ न मिलने से योगी और उपासक सम्प्रदायों में घोर विप्लव उपस्थित हुआ है।

हमने मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता और राजयोगसंहिता यह चार सिद्धान्त ग्रन्थ पाये हैं। इनमें प्रत्येक साधन प्रणाली विस्तृत और सुन्दररूप से वर्णित है। इन चारों ग्रन्थों के अतिरिक्त गुरुलोग इनके अवलम्बन से शिष्यों को किस प्रकार शिक्षा देवें इस विषय का योगप्रवेशिका नामक और एक ग्रन्थ है। उक्त पांचों ग्रन्थ प्रायः विद्यारत्नाकर नामक संस्कृत मासिक पत्र में प्रकाशित किये गये हैं। क्रमशः हिन्दी अनुवाद के साथ उनको प्रकाशित करेंगे। इस समय प्रथम में मन्त्रयोगसंहिता का हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित करना प्रारम्भ किया गया।

उपर्युक्त सात दर्शनग्रन्थ और पांच योगग्रन्थ हिन्दीभाषा में प्रकाशित होने से हिन्दी के दार्शनिक जगत् की उन्नति के विषय में एक असाधारण परिवर्त्तन संसाधित होगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

वेद का ज्ञानकाण्ड उपनिषद् हैं उनके सार भूत अर्थ को लेकर श्रीभगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया है उस सर्व्व शास्त्रमयी गीता का एक वृहत्भाषाभाष्य प्रणयन किया जा रहा है जिसको क्रमशः प्रकाशित करने का विचार है। आज तक इस प्रकार का आध्यात्मिक व्याख्यापूर्ण भाष्य प्रकाशित नहीं हुआ था।

इस प्रकार दर्शनों में से दैवीमीमांसादर्शन का हिन्दी संस्करण, योगसंहिताओं में से मंत्रयोगसंहिता और श्रीमद्भगवद्गीता का भाषाभाष्य प्रकाशित करना पहिले पहिल प्रारम्भ किया गया है। आशा है हिन्दी भाषोन्नति प्रेमी, दार्शनिक ज्ञानेच्छुक, योगसाधनाभ्यासी तथा योग के क्रियासिद्ध अंश के जिज्ञासु और सर्वोत्कृष्ट गीतोपनिषद् के ज्ञान को समझने की इच्छा करनेवाले धार्म्मिक व्यक्ति इस सत्पुरुषार्थ को देखकर प्रसन्न होंगे और इनसे लाभ उठाकर हमारे परिश्रम को सफल करेंगे।

ओं तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीता

(भाष्यभूमिका)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्मविनिस्सृता ॥

सब प्रकार के शास्त्र और ज्ञान के आधार वेद हैं। वेदों में प्रधान अङ्ग उपनिषद् कहे जाते हैं। उपनिषदों का सार श्रीगीताजी हैं। यथाः—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥"

समस्त उपनिषद् गऊरूप हैं, श्रीकृष्णजी महाराज उस के दोहनेवाले हैं, अर्जुनजी वत्सरूप और सुधीजन उसके पीनेवाले हैं एवं पान करने योग्य दुग्धरूपी गीतामृत है।

पूर्णज्ञानयुक्त वेद नित्य हैं। प्रलय काल में भी सब संसार के लय होजाने पर वेद ॐकार के स्वरूप में लीन हो कर रहते हैं और पुनः सृष्टि प्रकट होनेपर वेदों का यथावत् आविर्भाव हुआ करता है। यथाः—

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।"
"युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥"

वेद आदि अन्त रहित, नित्य और स्वयम्भू भगवान् के द्वारा प्रकाशित हैं। ऋषियोंने ब्रह्माजी के द्वारा आदिष्ट होकर तपस्या के बल से प्रलय में लयहुए वेद और इतिहासों को सृष्टि के प्रारम्भ में प्राप्त किया था।

वेदों का महत्त्व इस कारण से अधिक है कि वेद नित्य होने के कारण वे मनुष्यप्रणीत नहीं हैं। केवल सृष्टि के प्रारम्भ में समाधियुक्त योगिराज महर्षियों के अन्तःकरण में उनका आविर्भाव होता है। वेदों में ज्ञान की पूर्णता के कारण सत्त्व, रज और तमोगुणरूपी त्रिगुण और अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी त्रिभाव समरूप से विद्यमान हैं। इसी कारण वेद स्वतः पूर्ण अभ्रान्तज्ञानयुक्त और नित्य हैं; इसको सब दार्शनिकों ने एकमत होकर स्वीकार किया है। इसीसे महर्षि अङ्गिराजी ने कहा है:—

"गुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यं वेदः।"

"स्वतः पूर्णोऽभ्रान्तो नित्यश्च।"

त्रिगुण और त्रिभाव से पूर्ण होने के कारण वेद भगवद्वाक्य हैं, वे स्वतः पूर्ण अभ्रान्त तथा नित्य हैं।

यह संसार त्रिगुणात्मक व त्रिभावात्मक है। इस संसार में जो कुछ है सो त्रिगुणात्मक है क्योंकि रजोगुण से सृष्टि, सत्त्वगुण से स्थिति और तमोगुण से सब पदार्थों का लय हुआ करता है, एवं अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन भावों से इस संसार का अनुभव होता है। यथा महर्षि अङ्गिराजी ने कहा है:—

" गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ता भावैस्तदनुभवः।"

गुणों के द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं और भावों के द्वारा उनका अनुभव होता है।

जितने प्रकार के शास्त्र हैं उनमें एकाधार से त्रिगुण और त्रिभाव की स्थिति नहीं है। वेदों में एकाधार से त्रिगुण और त्रिभाव की स्थिति होने के कारण वेदों का इतना अधिक महत्त्व है। वेदों की प्रत्येक श्रुति त्रिभाव से पूर्ण होने के कारण उनकी प्रत्येक श्रुति के आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थात् ज्ञानकाण्ड सम्बन्धीय, उपासनाकाण्ड सम्बन्धीय और कर्मकाण्ड सम्बन्धीय ये तीन प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं। यही वेद का असाधारण महत्त्व है सो स्मृति में कहा भी है:—

"यथा दुग्धञ्च भक्तञ्च शर्कराभिः सुमिश्रितम्।
कल्पितं देवभोगाय परमान्नं सुधोपमम्॥
तथा त्रैविध्यमापन्नः श्रुतिभेदः सुखात्मकः।
नयते ब्राह्मणं नित्यं ब्रह्मानन्दं परात्परम्॥"

जैसा दुग्ध, चावल और शक्कर मिलाने से सुमिष्ट एवं देवभोगयोग्य परमान्न बनता है वैसेही अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावों से युक्त अमृतमयी श्रुति ज्ञानी पुरुष को ब्रह्मानन्द प्राप्त कराती है।

जिस प्रकार वेदों की प्रत्येक श्रुति के अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत रूप तीन प्रकार के लक्ष्य, तीन प्रकार के स्वरूप और तीन प्रकार के अर्थ होते हैं उसी प्रकार श्रीमद्भ-

गवद्गीता के भी उपनिषदों की सारभूता होने के कारण तीन प्रकार के स्वरूप और तीन प्रकार के भावपूर्ण लक्ष्य एवं अर्थ हैं इसीसे शास्त्रों में गीता का महत्त्व इतना अधिक है।

सृष्टि से परे जो निष्क्रिय पद है उसको ब्रह्म कहते हैं; और सर्वसाक्षी सर्वात्मा सृष्टि, स्थिति व लय के द्रष्टा सगुण ब्रह्मरूपी परमपुरुष को ईश्वर कहते हैं;एवं अनन्त वैचित्र्य-युक्त सृष्टिलीलामय अनन्त ग्रहनक्षत्रादि लोकों से पूर्ण अनन्तरूपधारी स्थूलब्रह्म विराट्ट पुरुष कहाते हैं; यही तीन रूप त्रिभावमय हैं। जिसप्रकार ब्रह्म को अध्यात्म, ईश को अधिदैव और विराट्ट पुरुष को अधिभूत रूप कहकर शास्त्रों में वर्णन किया है उसी प्रकार संसार भी तीन रूप से देखा जाता है। जिस शास्त्रीय शब्द के तीन रूप हों और जो शास्त्र त्रिभावप्रकाशक हो वही पूर्ण कहाता है। वेद त्रि-भावात्मक हैं और श्रीगीताजी भी त्रिभावात्मक हैं।

श्रीगीताजी का अध्यात्मरूप नित्य स्थायी है। ब्रह्म और प्रकृति के सम्बन्ध से जो कुछ ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, जो कुछ ऋषि देवता पितरादि व ग्रहनक्षत्रादि ब्रह्माण्ड में हैं वे ही इस पिण्डरूपी देह में हैं। यथा संहिताओं में कहा है:—

"ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात्।
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते॥
ऋषिदेवौ च पितरो नित्यं प्रकृतिपूरुषौ।
तिष्ठन्ति पिण्डे ब्रह्माण्डे ग्रहनक्षत्रराशयः॥

पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम्।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्त्वा यथायथम्॥"

ब्रह्म और प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक रूप और समष्टि व्यष्टि विचार से एक सम्बन्ध युक्त हैं। जैसे ब्रह्माण्ड में प्रकृति और पुरुष, नित्य ऋषि देवता और पितृगण तथा ग्रहनक्षत्रादि विद्यमान हैं वैसेही पिण्डशरीर में भी हैं। गुरूपदेश के द्वारा पिण्ड का ज्ञान लाभ करके पश्चात् साधक ब्रह्माण्ड का ज्ञान लाभ करता है।

धर्मक्षेत्र यह शरीर है क्योंकि इस शरीररूपी धर्मक्षेत्र को साधनरीति द्वारा कर्षित करने से इसी देह की सहायता से धर्म अर्थ काम व मोक्षरूपी चारों फलों की प्राप्ति होती है। धर्मपरायण पञ्चपाण्डव ही धर्म्म में नियुक्त पांचों तत्त्व हैं जिनके रक्षक और इस देहरूपी क्षुद्र ब्रह्माण्ड के चालक आज्ञाचक्रस्थित कूटस्थ चैतन्य ही श्रीकृष्ण महाराज हैं। पांचों तत्त्वों के मध्यस्थित मध्यशक्तिरूपी अग्नितत्त्व ही श्रीअर्जुनजी का स्वरूप है उसी शक्ति को यथाधर्म नियोजित करने के लिये श्रीगीताजी का नित्य उपदेश आज्ञाचक्र में नित्य विराजमान है। पाप करने की प्रवृत्ति होतेही जीव को चुपके से अन्तःकरण में कौन कहदेता है कि ऐसा मत कर? देह में नित्य विराजमान कूटस्थ चैतन्य रूपी श्रीभगवान् ही इस प्रकार से इस देह के साक्षी रहकर जीव को पाप कर्मों से रोका करते हैं। इसी भगवान् के नित्य उपदेश का पूर्ण रूप ही श्रीगीताजी हैं। दूसरी ओर सदसद्

विचार रहित अन्धा मन ही धृतराष्ट्र है। ज्ञाननेत्रविशिष्ट सर्वदर्शी बुद्धि ही सञ्जय है। अन्तःकरण की सौ प्रवृत्ति देनेवाली और सौ निवृत्ति देनेवाली इस प्रकार से दो सौ वृत्तियां योगियों ने कल्पित की हैं उनमें से सौ पापजनक वृत्तियां मानी गई हैं। अर्थात् सौ वृत्ति प्रवृत्ति की जो हैं सो मन की वृत्तियां कहाती हैं। ये ही प्रवृत्ति देनेवाली पापजनक सौ वृत्तियां ही धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि सौ पुत्र हैं। इसी पाप और पुण्य राज्य की प्रवृत्ति और निवृत्तिजनक बड़ी दो सेनाओं के बीच कूटस्थ चैतन्यरूपी शस्त्रधारण रहित निःसङ्ग श्रीभगवान् श्रीकृष्ण का नित्य उपदेश ही श्रीगीता जी का अध्यात्मस्वरूप है। यह अध्यात्मस्वरूप प्रत्येक ब्रह्माण्ड में तो क्या प्रत्येक पिण्डरूपी देह में नित्य विराजमान है। इस नित्यस्वरूप का दर्शन और इस नित्य उपदेश की प्राप्ति अन्तर्मुखी साधक को सदा होसक्ती है।

श्रीगीताजी का अधिदैव स्वरूप कुछ और ही है। सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीभगवान् ब्रह्माजी की इच्छा से जो सनक सनन्दनादि चार महापुरुषों की प्रथम सृष्टि हुई वह सृष्टि पूर्ण निवृत्तिवाली हुई। उन चारों महात्माओं से सृष्टिलीला का विस्तार नहीं होसका। उसके अनन्तर जो दूसरा सृष्टिक्रम हुआ तो श्रीभगवान् ब्रह्माजी की इच्छा से मरीचि अङ्गिरादि सप्त ऋषियों की सृष्टि हुई। ये सातों आदि पुरुष प्रवृत्ति के चालक हुए और उन्हींसे जगत् के सब जीवों की उत्पत्ति हुई। निवृत्ति का लक्ष्य एकमात्र परमात्मा ही

है परन्तु प्रवृत्ति का लक्ष्य अनन्त विषय समूह होने के कारण प्रवृत्ति का विस्तार अनन्त होगया । यदि धर्म्मानुकूल प्रवृत्ति हो तो उससे निवृत्ति होकर परमपद की प्राप्ति क्रमशः होसक्ती है । श्रीभगवान् अङ्गिराजीने कहा हैः—

" प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तेः "

" उभयतस्त्रिविधशुद्धिसम्भवःप्रत्यूहतारतम्यादाद्या गौणी मुख्याऽपरा तु । "

प्रवृत्ति और निवृत्ति यह दोनों ही मुक्ति के पथ हैं, दोनों में ही त्रिविधशुद्धि की सम्भावना रहती है; विघ्न के तारतम्यानुसार प्रवृत्तिमार्ग गौण और निवृत्तिमार्ग मुख्य है।

जिस प्रकार सारे संसार में द्वन्द्व दिखाई देता है, यथाः— सत्त्व और तम, प्रकाश और अन्धकार, दिन और रात, सुख और दुःख इत्यादि; उसी प्रकार वृत्तिराज्य में निवृत्ति और प्रवृत्ति का अनन्त विस्तार है । सत्त्वप्रधान रजोगुण से निवृत्ति और तमःप्रधान रजोगुण से प्रवृत्ति का उदय मनुष्य में हुआ करता है । कर्म्म जगत् के चालक देवताओं में भी इसी प्रकार से दो अधिकार पाये जाते हैं वे ही देव और असुर कहाते हैं । वेदों में और शास्त्रों में जो बहुधा देवासुर संग्राम का वर्णन देखनेमें आता है सो इसी अपूर्व विज्ञान से युक्त है । जब इस मनुष्यलोक में तमःप्रधान पाप का प्रवाह अधिक रूप से प्रवाहित होता है तब ही उस पापस्रोतको पुण्य की ओर फेरने के लिये देवताओं का अवताररूप से मनुष्यसमाज में जन्म हुआ करता है । परन्तु जब

धर्म्म की ग्लानि अधिक से अधिक बढ़जाती है तब स्वयं भगवच्छक्ति की अवतारणा हुआ करती है। क्योंकि साधारण कार्य्य देवताओं से होसक्ता है; परन्तु असाधारण कार्य्य के लिये साक्षात् भगवच्छक्ति की आवश्यकता होती है। कलाभेद से अवतार के अनेक भेद हैं। सब प्रकार के जीवों में विभूतिपर्य्यन्त आठ कला मानी गई है; और नौ कला से षोडश कला पर्यन्त अवतारों की कला शास्त्रों में कही गई है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र षोडश कला से पूर्ण अवतार थे। उनका मनुष्यविग्रह धारण करना केवल लोककल्याणार्थ लीलामात्र था। द्वापर के अन्त में घोर तमोगुण से जगत् आच्छन्न होजाने के कारण मनुष्य का हृदय अज्ञानमूलक घोर इन्द्रियप्रवृत्ति से अभिभूत हो जाने पर उसके दूर करने के अर्थ प्रबलशक्ति की आवश्यकता थी। उस समय राजाओं में प्रायः असुरों के अनेक अवतार उत्पन्न होकर वे स्वार्थपरता और अधर्म का अति विस्तार करने लगे थे। उनके साथ कालधर्म के फन्दे में फसकर अनेक देवांशों से उत्पन्न ब्राह्मण और क्षत्रियगण भी अधर्म के पक्षपाती बनगये थे। जब घोर समय आता है तब देवांश से उत्पन्न मनुष्यगण भी असुरभाव के पक्षपाती बनजाते हैं। उस समय में ऐसाही हुआ था। भीष्मादि का कौरवों का पक्ष लेना इसी कालधर्म का ही फल है। इसीसे अधर्म को दबाकर धर्मप्रवाह को ठीक करने के अर्थ अनेक देवताओं को अवतार लेना पड़ा था; और इसी अधिदैव

कारण से देवांश से पाण्डवादि का जन्म हुआ था एवं उन को निमित्त बनाकर श्रीभगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्ण महाराज ने महाभारत के युद्ध में दुर्योधनादि अनेक मदोन्मत्त अधर्म पक्षपाती आसुरी प्रजा का नाश करके धर्ममार्ग का पुनः प्रचार किया था; और इस घोर युद्ध के प्रारम्भ में यथार्थ लक्ष्य को लक्षित कराने के अर्थ नरनारायणावतार श्रीकृष्णार्जुन संवाद से श्रीगीताजी का प्राकट्य हुआ था। उस समय महाभारत के युद्ध द्वारा आसुरी शक्ति का नाश हुआ था; और गीता-विज्ञान के प्रकाश द्वारा वेद का विज्ञान प्रकाशित करके मनुष्यों को यथार्थ धर्ममार्ग दिखा दिया गया था। यही श्रीगीताजी का अधिदैव स्वरूप है।

श्रीगीताजी का अधिभूत स्वरूप स्थूल अक्षरमय है। कालधर्म के अनुसार ज्ञान का आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। काल सदा निर्लिप्त होनेपर भी तत्तत् काल के समष्टि जीवों के समष्टि प्रारब्ध के अनुसार तत्तत् काल का स्वरूप ऐसेही दिखाई देने लगता है। काल के सदा निर्लिप्त और अविकारी होने पर भी केवल समष्टिजीवों के प्रारब्धानुकूल ही सत्य द्वापर आदि युगों की उत्पत्ति हुआ करती है। और कालधर्म के प्रबल होने के कारण कालधर्म का प्रभाव तत्तत्काल में उत्पन्न सब जीवों को न्यूनाधिक रूप से भोगना पड़ता है। इसी अपरिहार्य नियम के अनुसार विशेष विशेष कालमें उत्पन्न मनुष्यों की प्रज्ञा का सङ्कोच और विकाश यथायोग्य रीति से होना अवश्य-

म्भावी है। सत्यादि युगों में मनुष्यों की प्रज्ञा का विकाश विशेष रहने के कारण ११८० शाखायुक्त वेद की उतनी ही संहिता, उतने ही ब्राह्मण और उतने ही उपनिषदों के तात्पर्य्य ग्रहण करने की शक्ति उस समय के मनुष्यों में होती थी। क्रमशः तमः प्रधान काल के उदय होने पर मनुष्यों की प्रज्ञा का सङ्कोच होगया था इस कारण एकाधार में वेद प्रतिपाद्य विज्ञान का रहस्य प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई थी। वेदों में पुस्तक के पांच भेद किये हैं। ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, बिन्दु और अक्षरमय पुस्तक। यथाः—

"ब्रह्माण्डपिण्डौ नादश्च बिन्दुरक्षरमेव च।
पञ्चैव पुस्तकान्याहुर्योगशास्त्रविशारदाः॥"

अक्षरमय पुस्तक के कालधर्म से नष्ट होजानेपर भी वेद अथवा वेदसम्मत शास्त्रसमूह अन्य चार प्रकार की पुस्तकों के आकार में रहते हैं। कल्पान्तर में उक्त सब प्रकार की पुस्तकों में हेर फेर हुआ करता है, और जिस कल्प में जितना वेद आविर्भूत होता है वह उस कल्प के महर्षियों के अन्तःकरण में हुआ करता है। इसी प्रकार शास्त्रसमूह भी ऋषि मुनि और ऋषियों के अंश से उत्पन्न विद्वानों के द्वारा समय समय पर प्रकाशित होकर जगत् का कल्याण किया करते हैं। द्वापर के अन्त में मनुष्यों की प्रज्ञा का सङ्कोच होजाने से नारायणरूपी श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और नररूपी अर्जुनजी के सम्बन्ध से श्रीभगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी के द्वारा पञ्चमवेदरूपी महाभारत के

अन्तर्गत अक्षरमयी श्रीगीताजी का प्रकाश हुआ है। यही श्रीगीताजी का आधिभौतिक स्वरूप है।

भाव की असाधारण शक्ति है। भाव की सहायता से ही जीवों को सृष्टिस्थितिलयात्मक जगत् का ज्ञान होता है। वृत्तिराज्य में भाव ही प्रधान है। भाव शुद्धिद्वारा अधर्म कार्य्य भी धर्म्म में परिणत हो सक्ता है। असद्वस्तु भी सद्-भाव में परिणत हो सक्ती है। यज्ञ की भावशुद्धि से जीव-हिंसारूपी पशु का बलिदान भी कर्ता की धर्मवृद्धि का कारण होता है। इसी प्रकार भाव की असाधारण शक्ति के कारण एक भाव दूसरे भाव में परिणत होकर अलौकिक फलप्रदान कर सक्ता है। ब्रह्म, ईश और विराट् इन तीनों भावों के नित्य होने के कारण अध्यात्म, अधिदैव और अधि-भूत ये तीनों भाव संसार में नित्य और व्यापक हैं। श्री विष्णुभागवत में जो आधिभौतिक रासलीला का वर्णन है और श्रीदेवीभागवत में जो आध्यात्मिक रासलीला का वर्णन है सो नैमित्तिक और नित्य सम्बन्धयुक्त है। अतः देवीभा-गवत का पाठक विष्णुभागवत की रासलीला को असत् नहीं मानसक्ता, क्योंकि भाव नित्य हैं। जो आध्यात्मिक भाव में स्थित है उसका आधिदैविक और आधिभौतिक भाव होना स्वतः सिद्ध है। यदि आध्यात्मिकभावपूर्ण किसी विषय का आधिदैविक स्वरूप व आधिभौतिक स्वरूप प्रका-शित नहीं हुआ हो तो भविष्यत् में होगा। जो अधिभूत में स्थित है उसका आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप अवश्य

है। अतः श्रीगीताजी के तीनों स्वरूप नित्यसिद्ध हैं।

नित्यसिद्ध ऋचाएं जो महर्षियों के समाधिस्थ अन्तः-करण में आविर्भूत होती हैं वेही वेद हैं। और वेद की स्मृति की सहायता से महर्षिगण अपनी भाषा में जो शास्त्र प्रकाशित करते हैं वही स्मृतिशास्त्र है। इतिहास पुराणादि शास्त्र भी स्मृतिशास्त्र के अन्तर्गत हैं, क्योंकि इतिहासपुराणादि शास्त्रों में भी अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव ही वेद के अनुरूप ही पाये जाते हैं और पुराण व इतिहासादि शास्त्रोंकी समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीयभाषा वेद के अनु-करण पर ही महर्षियोंने प्रकाशित की हैं। उनके लक्षण ये हैं:—

"समाधिभाषा प्रथमा लौकिकीति परा मता।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा मता॥
गुप्तमेतद्रहस्यं वै भाषातत्त्वं महर्षयः।
सम्यग् ज्ञात्वा प्रवर्त्तध्वं शास्त्रपाठेषु संयताः॥
समाधिभाषा जीवानां योगबुद्धिप्रदायिका।
नयते नितरामेतान् परमामृतमव्ययम्॥
सुरम्या लौकिकी भाषा लोकबुद्धिप्रसाधिका।
परमानन्दभोगान्सा प्रदत्ते नाऽत्र संशयः॥
परकीया तथा भाषा शास्त्रोक्ता पापनाशिनी।
जीवान्सा पुण्यलोकानां कुरुते ह्यधिकारिणः॥

(इति भरद्वाज-संहितायाम्)

पुराणकी भाषा तीन प्रकार की है। प्रथम समाधिभाषा, द्वितीय लौकिक भाषा और तृतीय परकीयभाषा। इन

तीनों भाषाओं का रहस्य जानकरके शास्त्रपाठ में प्रवृत्त होना चाहिये। समाधिभाषा के द्वारा योगयुक्त बुद्धि का उदय होता है जिससे जीवों को परमामृतरूपी मुक्तिपद की प्राप्ति होती है। लौकिकभाषा रुचिकर और साधारण बुद्धिगम्य है उसके द्वारा भाषा का सौन्दर्य्य लाभ और साथ ही साथ परमानन्द की प्राप्ति होती है। और परकीय भाषा पाप के नाश करनेवाली है उसके द्वारा जीव पुण्य लोक के अधिकारी होते हैं। ये तीनोंही भाषा वेदार्थ-प्रतिपादिका होने के कारण इन तीनों की ही स्मृतिसंज्ञा होसक्ती है। श्रीगीताजी यद्यपि समाधिभाषा से पूर्ण है परन्तु कहीं कहीं उसमें लौकिकभाषा और परकीयभाषा का भी अंश देखा जाता है।

कर्म्म उपासना और ज्ञान, एकाधार में इन तीनों से पूर्ण ग्रन्थ श्रीगीताजी के अनुरूप और कोई भी देखने में नहीं आता है। वेद के कर्मकाण्ड का प्रतिपादक महर्षि जैमिनी भरद्वाजादिकृत कर्म्म मीमांसादर्शन, वेद के उपासनाकाण्ड के विज्ञान का प्रतिपादक महर्षि अङ्गिरा शाण्डिल्यादिकृत दैवीमीमांसा दर्शन और वेद के ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक महर्षि व्यासकृत ब्रह्ममीमांसादर्शन इन तीनों के प्रधान प्रधान रहस्य सबही श्रीगीताजी में पाये जाते हैं। श्रीगीताजी के १८ अध्यायों में से प्रथम छः अध्याय कर्मकाण्ड के रहस्य के प्रतिपादक हैं। दूसरे छः अध्याय उपासना और भक्तिकाण्ड के रहस्य प्रतिपादक हैं।

और अन्तिम छः अध्याय ज्ञानकाण्ड के विज्ञान के प्रतिपादक हैं। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में विरोध होने के कारण एवं उपासना व भक्तिद्वारा दोनों अधिकार की समता होने से भक्ति और उपासना का वर्णन मध्य में किया गया है। यही सब गीताजी का अलौकिकत्व है।

श्रीगीताजी में त्रिगुणमय सब अधिकार पाये जाते हैं। उसमें ब्रह्मोपासना, सगुणोपासना, अवतारोपासना और यहांतक कि भूतप्रेतादि—उपासनारूप निम्नकोटि की उपासना के यथायोग्य अधिकार का रहस्य वर्णित होने से वह पूर्ण विज्ञानयुक्त है। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी यह चारों प्रकार के भक्तवृन्दही श्रीगीताजी के श्रवण मनन द्वारा समानरूप से कल्याण प्राप्त करसक्ते हैं। नामरूपात्मक मन्त्रयोग, स्थूलशरीर सम्बन्धीय साधनप्रधान हठयोग, समष्टि व्यष्टि सम्बन्धयुक्त लययोग, और आत्मज्ञान प्रधान राजयोग, इन चारों प्रकार के ही योगियों के लिये श्रीगीताजी अति सहायक हैं। श्रीगीताजी सब प्रकार के कर्म्मी, सब प्रकार के उपासक और सब प्रकार के ज्ञानियों के लिये समानरूप से हितकर हैं। यही श्रीगीताजी का परम महत्त्व है।

धर्म्म का लक्षण वर्णन करते समय महर्षि कणाद ने कहा है:—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः।"

महर्षि भरद्वाज ने कहा है:—

"धारणाद्धर्म्मः ।"

"अभ्युदयकरः सत्त्वप्राधान्यात् ।"

"कर्म्मावसाने निःश्रेयसकरः शक्तिमत्त्वात् ।"

महर्षि अङ्गिराजी ने कहा है :—

"येनैतद्धार्य्यते स धर्म्मः ।"

"मुक्त्युन्मुखकरः सत्त्वप्रधानत्वात् ।" इत्यादि ।

जिससे उन्नति और मुक्ति होवे उसको धर्म्म कहते हैं । इस संसार को धारण करता है इसीलिये धर्म नाम है । धर्म में सत्त्वगुण की प्रधानता है इसीलिये वह उन्नतिकर है । धर्म में पूरी शक्ति विद्यमान है इस कारण कर्म्म के अवसान में धर्म के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है । इस विश्व को जिसने धारण कररक्खा है वह धर्म्म है । धर्म्म में सत्त्वगुण की प्रधानता रहने के कारण वह मुक्ति देने वाला है । तात्पर्य यही है कि साधारण धर्म्म सर्वव्यापक और सर्वलोक हितकर है । धर्म्म के सत्त्वगुणवर्द्धक होने के कारण शारीरिक वाचनिक और मानासिक इन सब क्रियाओं के साथ उसका सम्बन्ध है । इहलौकिक अभ्युदय, पारलौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस मुक्ति के साथ सम्बन्ध युक्त होने के कारण धर्म्म सब श्रेणी के मनुष्यों का सहायक है । अन्यान्य शास्त्रों में अधिकार भेद होने के कारण, उनमें विशेष धर्म्म का बहुधा वर्णन होने से, वे शास्त्र विशेष विशेष अधिकारी के लियेही अधिक फलप्रद हैं; परन्तु श्रीगीताजी का एक प्रधान महत्त्व यह है कि वह साधारण धर्म्म के

विज्ञान से पूर्ण होने के कारण सर्वलोक हितकर है। पृथिवी भर के सब मनुष्य आत्मोन्नति के विचार से उसका अध्ययन करने पर अपने अपने अधिकार के अनुसार अवश्य उन्नति लाभ करेंगे।

ज्ञान दो प्रकार का है। यथाः—तटस्थज्ञान और स्वरूपज्ञान। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी जहां है उसको तटस्थज्ञान कहते हैं, और जहां तीनों का लय स्वस्वरूप में होजाता है उसको स्वरूपज्ञान कहते हैं। सांख्य प्रतिपाद्य ज्ञान तटस्थ है और वेदान्तप्रतिपाद्य ज्ञान का लक्ष्य स्वरूप ज्ञान है। इन दोनों का यथावत् और यथाधिकार वर्णन श्रीगीताजी में पाया जाता है। श्रीगीताजी के प्रायः प्रत्येक श्लोक में समाधिभाषा की पूर्णता पाई जाती है इसीकारण अन्तर्मुखयोगिगण श्रीगीताजी के सब स्थलों में अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावों को अर्थानुगमन पूर्वक प्राप्त किया करते हैं। आत्मनिष्ठ योगिगण सृष्टि के प्रत्येक स्थान में त्रिविधभावों का दर्शन करसक्ते हैं। उदाहरण स्थलपर कहसक्ते हैं कि भोजनरूप एक सामान्य क्रिया में जब कामना का त्याग किया जाय और यह सोचा जाय कि भोजन के द्वारा क्षुधा निवृत्ति और बलकी प्राप्ति होकर वह भोजन कर्म्मयोग के साधन में सहायक होता है, तो यही अधिभूत भाव है; इसी से अधिभूत शुद्धि होगी और यही कर्मयोग होगा। जब यह धारणा की जाय कि इष्टदेव की कृपाहीसे यह भोजन प्राप्तहुआ है और उनको निवेदन हो जाने से

यह उनका प्रसादरूप है, इसप्रकार से भोग भाव को दूर करके भक्तिभावसम्मित जो भाव है वही अधिदैवभाव है; और उसीके द्वारा उपासना-बुद्धि की दृढ़ता और अधि दैवशुद्धि होती है। इसीतरह जब भोजन का स्वरूप, भोजन के साथ शरीर का सम्बन्ध और आत्मा के साथ शरीर व भोजन का सम्बन्ध, इत्यादि भावों से युक्त अन्तःकरण होवे वही ज्ञानाधिकार और आध्यात्मिकभाव है; उसी से आध्यात्मिक शुद्धि होती है। श्रीगीताजी के प्रत्येक उपदेश समाधिभाषा से पूर्ण होने के कारण त्रिभावों से पूर्ण हैं। सप्तज्ञानभूमिमय सप्तदर्शन विज्ञान से पूर्ण श्री गीताजी के अष्टादश अध्यायों में से पहले छः अध्यायों में कर्म का स्वरूप और कर्म का त्याग वर्णन करते हुए "तत्त्वमसि" महावाक्य के त्वंपदार्थ की मीमांसा कीगई है। दूसरे छः अध्यायों में भगवद्भक्ति निष्ठावर्णन और उपासना रहस्य का कथन करते हुए तत्पदार्थ का निर्णय किया गया है। और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञानकाण्ड का स्वरूप वर्णन करते हुए तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का ऐक्य सिद्ध करके महावाक्य की सार्थकता की गई है। इस प्रकार गीताजी का महात्म्य जितना विचार किया जाय उतनाही पूर्णरूप में दिखाई देगा॥ इति शम्॥

ध्यानम् ।
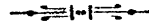
पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता
नारायणेन स्वयम्,
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना
मध्ये महाभारते ।
अद्वैताऽमृतवर्षिणीं भगवतीं
मष्टादशाऽध्यायिनीम्,
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्-
गीते भवद्वेषिणीम् ॥ १ ॥

नमोऽस्तुते व्यास विशालबुद्धे,
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः,
प्रज्वालितो ज्ञानमयप्रदीपः ॥ २ ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला
गान्धारनीलोत्पला,
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी
कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा
दुर्योधनावर्त्तिनी,
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी
कैवर्त्तकः केशवः ॥ ३ ॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः
स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः,
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदै
र्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा
पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्याऽन्तं न विदुः सुरासुरगणा
देवाय तस्मै नमः ॥ ४ ॥

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

अन्वयः—धृतराष्ट्रः उवाच। भो सञ्जय! धर्म्मक्षेत्रे (धर्म्मभूमौ) कुरुक्षेत्रे मामकाः (मदीयाः, मत्पुत्राः दुर्योधनादयः) पाण्डवाश्च (पाण्डुपुत्रा युधिष्ठिरादयश्च) युयुत्सवः (योद्धुमिच्छन्तः) समवेताः (मिलिताः सन्तः) किं अकुर्वत (कृतवन्तः) ॥ १ ॥

अनुवाद—राजा धृतराष्ट्र ने पूछा हे सञ्जय धर्म्म-क्षेत्ररूप कुरुक्षेत्र में मेरे पुत्रगण और पाण्डुपुत्रगण युद्ध करने की इच्छा से एकत्रित होकर क्या कर रहे हैं ॥ १ ॥

भाष्य—वेदों के तीनप्रकार की श्रुतियों के अनुसार वेद सम्मत पुराणादि शास्त्रों में तीनप्रकार की भाषा व्यवहृत हुई है । उन तीनों भाषाओं का नाम समाधिभाषा, परकीयभाषा और लौकिकभाषा है । समाधिबुद्धि द्वारा जानेहुए विषय जिस भाषा के द्वारा प्रकाशित हों उसको समाधिभाषा कहते हैं । यथा—लिङ्गपुराण में जो ज्योतिर्मय लिङ्ग का वर्णन है वह समाधिभाषा है । अनादि अनन्त

चिन्मय ब्रह्मसत्ताही शिवलिङ्गरूप से वर्णित है। उस लिङ्ग के अनादि अनन्तत्व और उसके महत्त्वप्रकाशार्थ उक्त समाधिगम्य भाव को जब लौकिक रीति से ब्रह्मा और विष्णु के विवाद प्रसंग से जहां समझाया गया है वही लौकिक भाषा है। और शिवलिङ्ग-माहात्म्य के समझाने के अर्थ और जिज्ञासु के चित्त में उसकी दृढ़ता स्थापन के निमित्त जो शैलादि गाथाओं के द्वारा वर्णन किया गया है ऐसी गाथाएँ परकीयभाषा कहाती हैं। इन तीनों भाषाओं के विना समझे पुराणादि शास्त्रों का यथार्थ तात्पर्य्य कदापि समझने में नहीं आसक्ता है।

श्रीगीताजी के अध्यात्मस्वरूप के अनुसार यह श्लोक लौकिकभाषा है। तात्पर्य्य यह है कि मनुष्य शरीररूपी धर्म-क्षेत्र में सदसद्विवेकरूपी तत्त्वज्ञान का उपदेश जीव को कूटस्थ चैतन्य की सहायता से नित्य प्राप्त होसक्ता है। उद्भिज स्वेदज आदि जीव–शरीरमात्रही कर्म्मबीज के अङ्कुरोत्पत्ति के विचार से क्षेत्र नाम से कहे जासक्ते हैं। परन्तु धर्माधर्म पाप पुण्य आदि का सम्बन्ध केवल मनुष्य शरीर के साथ है। मनुष्य शरीर में ही धर्म्म और अधर्म्म की प्राप्ति होसक्ती है। मनुष्यही धर्म्मोन्नति द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करता है इस कारण मनुष्य शरीर ही धर्म्मक्षेत्र है। यदि साधक अध्यात्म लक्ष्ययुक्त योगी होवे तो विवेकज्ञानरूपी सञ्जय की सहायता से कूटस्थ चैतन्य श्रीभगवान् के उपदेशरूपी गीतोपनिषद् की प्राप्ति उसको

नित्य होसक्ती है । उस समय स्वाभाविक कर्म्मजनित मुक्ति के हेतुरूपी निवृत्तिकारी वृत्तियों और अस्वाभाविक कर्म्मजनित बन्धन के हेतुरूपी मन की मलिन वृत्तियों के युद्ध का स्वरूप और उसका परिणाम योगी साधक को विदित हुआ करता है। अध्यात्मतत्त्वज्ञ योगी के अन्तःकरण में जब श्रीगीताजी का अध्यात्मस्वरूप प्रश्नोत्तरद्वारा स्वतः ही उदय होने लगता है तबही वह योगी राजयोगी कहलाते हैं।

श्रीगीताजी के अधिदैवस्वरूप के अनुसार यह श्लोक परकीयभाषा है। देवताओं के अवतार और असुरों के अवतार इन दोनों का घोर युद्ध महाभारत का युद्ध है । कलि का प्रारम्भ होने से इस युद्ध की घोरता कुछ बढ़गईथी क्योंकि मोह प्राप्त होकर देवताओं के कुछ अवतार भीष्मादि ने असुरों का पक्ष लेलिया था । इस घोर देवासुरसंग्राम का वर्णन महाभारत में है । इस महायुद्ध के फल से ही घोर स्वार्थपर और पापी राजाओं का नाश होकर संसार में सनातन धर्म की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित हुई थी। यदि यह महायुद्ध न होकर आसुरी शक्तियों का दलन न होता तो बहुत शीघ्रही संसार से सनातनधर्म का बीज तक नाश होजाता। रोगी में जब घोर त्रिदोष होजाता है उस समय विष प्रयोग की आवश्यकता होती है । मनुष्यजीवन नाशकारी विषहीं उस समय अमृतरूप होकर त्रिदोष का नाश करके मनुष्य को जीवनदान देता है। उसी प्रकार

आसुरी प्रजा का पाप और बल जब असाधारणरूप से बढ़ जाता है तबही श्रीभगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, और इसी प्रकार से पृथिवी के भार को कम करके धार्मिकों की सहायता करते हुए धर्मबीज की रक्षा किया करते हैं। महाभारतयुद्धरूपी देवासुरसंग्राम का स्वरूप और धार्मिकों के लिये श्रीगीतोपनिषद्रूपी अलौकिक उपदेश आदि का ज्ञान जगत् में प्रकाशित करने के लिये ऋषिकृपाप्राप्त सञ्जय का जन्म हुआ था, क्योंकि महर्षिगण जगत् में ज्ञान के प्रकाशक हैं; जिनपर ऋषियों की कृपा होती है, जो पुरुष ऋषियों के अंश से जन्म ग्रहण करते हैं वेही ऐसे ज्ञान को प्रकाशित करसक्ते हैं। अपिच ऐसी देवासुरसंग्राम कथा और गीतोपनिषद् जैसे वेदसार के प्रकाश के लिये सञ्जयोपाख्यानरूप से जो गाथा महाभारत में कही गई है वही यह स्वरूप है।

श्रीगीताजी के अधिभूत स्थूल शास्त्रीयस्वरूप के अनुसार इस श्लोक का भाव कुछ औरही है। राजा धृतराष्ट्र अन्ध थे, परन्तु उन्होंने हस्तिनापुर में बैठे हुए ही युद्धका वृत्तान्त जानने के लिये श्रीभगवान् वेदव्यासजी से प्रार्थना की थी। श्रीभगवान् व्यासजी ने तब सञ्जय को ज्ञाननेत्र देकर उपदेश किया कि राजा धृतराष्ट्र के पास रहकर कुरुक्षेत्र का वृत्तान्त सुनाते रहो। इसी कारण राजा धृतराष्ट्र सञ्जय से प्रश्न करते गये और सञ्जय उत्तर देते गये। इसी प्रश्नोत्तर के प्रारम्भ में कहा है "किमकुर्वत" अर्थात् क्या

करते हैं । अब यहां यह प्रश्न उठसक्ता है कि जब पाण्डव-गण जतुगृहदाह वनवासादि बहु प्रकार के अत्याचारों से पीड़ित होकर कौरवों को नाश करने के लिये दृढ़प्रतिज्ञा करचुके थे, जब श्रीमान् विदुर व श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज के सन्धिस्थापन करने के लिये बहुत से यत्न करने पर भी दुर्योधन ने कहा था कि विना युद्ध के एक सूई के अग्रभाग के बराबर भी भूमि नहीं दूँगा, तौ भी ऐसा प्रश्न क्यों किया गया । ऐसी निश्चित दशा में यह प्रश्न होना उचित था कि युद्ध कैसा होरहा है । इस शङ्का का समाधान यह है कि कुरुक्षेत्र एक साधारण स्थान नहीं है, कुरुक्षेत्र एक पुण्यतीर्थ है इसीलिये कुरुक्षेत्र शब्द से प्रथम धर्मक्षेत्र रूप गुणवाचक शब्द कहागया है । इस गुणवाचक धर्मक्षेत्र शब्द सेही धृतराष्ट्र के प्रश्न का गभीर तात्पर्य्य निश्चय किया जा सक्ता है । जिस स्थान पर जाने से धर्मबुद्धिहीन मनुष्य के हृदय में धर्मभाव का उदय होता है, अप्रकाशित धर्म अङ्कुरित होता है, जहां केवल धर्मकार्य्यों का ही अनुष्ठान होता रहता है, उस स्थान की ऐसी स्वाभाविक पवित्रता होती है कि जिसके कारण तमोगुणी मनुष्य में भी सत्त्वगुण का विकाश होजाता है उसी स्थान को धर्मक्षेत्र कहते हैं । कुरुक्षेत्र वैसाही एक प्रधान धर्म्मक्षेत्र है । यथाः—

" यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनं ॥ " इति जाबालोपनिषद् ॥

कुरुक्षेत्र देवताओं का देवयजनस्वरूप एवं प्राणियों के लिये ब्रह्म व मोक्षलाभ का निकेतनस्वरूप है। शतपथ ब्राह्मण में भी कुरुक्षेत्र की ऐसीही प्रशंसा है यदिच पाण्डव और कौरवों ने प्रथम से ही युद्ध करना निश्चय किया था, परन्तु राजा धृतराष्ट्र को धर्मक्षेत्र की महिमा स्मरण होने के कारण यह संशय हुआ कि स्थानप्रभाव से दोनों पक्ष के अन्तःकरण में सत्त्वगुण का उदय होना सम्भव है। यदि ऐसा हुआ हो तो लोकहानि कर युद्ध के बदले परस्पर में मित्रता और सन्धि भी होसक्ती है। इसी विचार के अनुसार धृतराष्ट्र के प्रश्न का आशय यह था कि उभय पक्ष में सन्धि हुई अथवा युद्ध का प्रारम्भ हुआ। धृतराष्ट्र को ऐसी भी आशा थी कि धर्मात्मा पाण्डवगण धर्मक्षेत्र के प्रभाव से पूर्व की अपेक्षा अधिक सात्त्विकभाव युक्त होकर जीवहत्यारूप कार्य से निवृत्त हुए होंगे। अथवा दुरात्मा दुर्योधन ने धर्मक्षेत्र की महिमा के प्रभाव से अपनी दुर्बुद्धि को छोड़ते हुए पाण्डवों का धर्मतः प्राप्य अधिकार उनको दिया होगा। पुत्र स्नेह के कारण धृतराष्ट्र का "मामकाः किमकुर्वत" यह मुख्य प्रश्न था और च पद के द्वारा "पाण्डवाः किमकुर्वत" इस वाक्य से गौणभाव को उसने लक्ष्य किया था। दुर्योधनादि को लक्ष्य करके "मामकाः" पद और युधिष्ठिरादि भ्रातृपुत्रों के लिये "पाण्डवाः" शब्द का व्यवहार होने से धृतराष्ट्र की अपने पुत्रों से आत्मीयता और पाण्डवों से अनात्मीयता अथवा

शत्रुबुद्धि का परिचय सूचित होता है। अपने पुत्रगण धर्मक्षेत्र के प्रभाव से अपनी अपनी दुष्क्रियाओं के कारण पश्चात्तापयुक्त होकर या तो बहुत अनुतप्त हुए होंगे, अथवा उन्होंने राज्य छोड़ कर पराजय स्वीकार करलिया होगा ऐसी चिन्ताही धृतराष्ट्र के प्रश्न का मूल कारण है।

अपने पास रहने वाले किसी से यदि कुछ पूछना होता है तो उस समय उसका नाम लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है,परन्तु व्याकुल चित्त राजा धृतराष्ट्र ने पक्षपात शून्य होकर पूछने की उत्तेजना का भान दिखाने के लक्ष्य से बड़ी मर्यादा के साथ "हे सञ्जय" (जिसने रागद्वेष को जय किया है वही सञ्जय है) ऐसा प्रशंसा सूचक सम्बोधन पद बोला था। यही इस श्लोक के पदों का तात्पर्य है॥१॥

सञ्जय उवाच।

दृष्ट्वातु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्य्यमुपसङ्गम्य राजावचनमब्रवीत् ॥ २॥

(अन्वयः) सञ्जयः उवाच—तदा राजा दुर्योधनः पाण्डवानीकं (पाण्डवसैन्यं) व्यूढं (व्यूहरचनया अधिष्ठितं) दृष्ट्वा तु आचार्य्यं (द्रोणं) उपसङ्गम्य (समीपं गत्वा) वचनं अब्रवीत् (वक्ष्यमाणं वाक्यं उवाच) ॥ २ ॥

(भाषानुवाद) सञ्जय ने कहा—उस समय पाण्डवपक्षीय सेना को व्यूह रचना के द्वारा अवस्थित देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणजी के पास जाकर कहने लगे॥ २॥

(भाषाभाष्य) "धर्म्मक्षेत्र की विशुद्ध शक्ति के प्रभाव से अच्छी बुद्धि प्राप्त होकर दुर्योधन अनुतप्त हुए होंगे" धृतराष्ट्र को जो ऐसी शङ्का हुई थी उसी के निराकरणार्थ सञ्जय ने प्रथम ही पाण्डवों की बात नहीं कहकर दुर्योधन की दुर्बुद्धिता और कार्यावली की व्याख्या करना प्रारम्भ किया । "राजा" शब्द के द्वारा दुर्योधन के अधिनायकत्व तथा कर्तृत्व का और उसने जो इससमय राजनैतिक कौशल अवलम्बन किया था उसका परिचय दिया गया है । "उपसङ्गम्य" अर्थात् पास जाकर इस पद के द्वारा यह भाव प्रकाशित होता है कि यदि दूसरे किसी के पास जाते तो उससे उनकी पद मर्यादा में हानि पहुंचती और साथ ही साथ लोग समझते कि दुर्योधन भयभीत हुए हैं । परन्तु द्रोणाचार्य के पास जाने से लोगों को ऐसे सन्देह का अवसर नहीं मिला क्योंकि अपने आचार्य के पास शिष्य सब समय ही जासकता है । "अब्रवीत्" अर्थात् बोले इस शब्द के प्रयोग से ही दुर्योधन का आचार्य के पास कहना निश्चित होता; तथापि "वचनमब्रवीत्" अर्थात् वाक्य बोले, इस वचन अर्थात् वाक्य शब्द के द्वारा यह भाव सूचित होता है कि कुछ साधारण बात नहीं बोले वरञ्च कुछ विशेष बात बोले॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

(अन्वयः) हे आचार्य्य ! तव शिष्येण धीमता द्रुपदपुत्रेण

(धृष्टद्युम्नेन) व्यूढां पाण्डुपुत्राणां एतां महतीं (विततां) चमूं (सेनां) पश्य ॥ ३ ॥

(भाषानुवाद) हे आचार्य्य ! आपके शिष्य धीमान् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूह रचना से सुरक्षित पाण्डवों की इस महती सेना को देखिये॥३॥

(भाषाभाष्य) पाण्डवगण द्रोणाचार्य के बड़े प्रिय शिष्य थे और अर्जुन तो सब से ही विशेष प्रिय थे । युद्ध के समय उस स्नेह के कारण द्रोणाचार्य युद्ध छोड़ देवें अथवा युद्ध में शिथिलता करें इसी भय से दुर्योधन पहिले से ही उसका उपाय करने की इच्छा से इस चातुरी के साथ बोलने लगे कि जिससे आचार्य्य के हृदय में पाण्डवों के ओर की अवज्ञा से उत्पन्न क्रोध का उदय हो । अतएव मूल के वाक्य द्वारा राजा दुर्योधन आचार्य्य को सूचित करते हैं कि देखिये आप जैसे महानुभाव को अवज्ञा करके आपके शिष्य होने पर भी कैसी धृष्टता के साथ अनेक अक्षौहिणी सेना को लेकर सामने खड़े हैं । केवल इतना ही नहीं है आपका जो चिर शत्रु द्रुपद राजा है उसी का पुत्र धृष्टद्युम्न जिसे कि आपने कृपापूर्वक धनुर्विद्या सिखाई वही आज गुरुद्रोही होकर आपके साथ लड़ाई करने के लिये पाण्डवसेना के सञ्चालकरूप से आपके सामने उपस्थित है । इस श्लोक में धृष्टद्युम्न न कहकर द्रुपदपुत्र शब्द का प्रयोग करने से यह तात्पर्य है कि राजा द्रुपद आचार्य्य के पूर्व शत्रु थे इस कारण पूर्वशत्रुता का स्मरण दिलाने से

अधिक क्रोध का होना सम्भव है । इस प्रकार "द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण" इस वाक्य से पूर्व शत्रुता की उत्तेजना और गुरुद्रोही शिष्यों को समुचित दण्ड देना चाहिये, इसके लिये उद्दीपना की है; तथा बहु अक्षौहिणी सेना लेकर शत्रु को सुसज्जित होकर सामने देखने से आचार्य को अपने जय के विषय में सन्देह हो इससे उस सन्देह के दूर करने के अर्थ इसमें शिष्य शब्द का भी प्रयोग किया गया है जिससे आचार्य को यह लक्ष्य कराया गया है कि वे बलशाली होने पर भी आपके ही शिष्य हैं अर्थात् आप से छोटे ही हैं । साथ ही साथ " धीमता " इस शब्द से यह भी सूचित कर दिया है कि शिष्यगण धीमान् हैं अतः वे उपेक्षा करने के पात्र नहीं हैं; अर्थात् आप को सावधान होकर युद्ध करना उचित है ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

(अन्वयः) अत्र (सेनायां) शूराः महेष्वासाः (महाधनुर्द्धराः) युधि (युद्धे) भीमार्जुनसमाः युयुधानः (सात्यकिः), विराटः च, महारथः द्रुपदः च, धृष्टकेतुः, चेकितानः, वीर्यवान् काशिराजः च, पुरुजित्, कुन्तिभोजः च, नरपुङ्गवः (नरश्रेष्ठः)

शैब्यः च, विक्रान्तः युधामन्युः च, वीर्यवान् उत्तमौजाः च, सौभद्रः (अभिमन्युः), द्रौपदेयाः च (द्रौपदीतनयाः प्रतिविन्ध्यादयश्च) (एते) सर्वे एव महारथाः (सन्ति) ॥ ४, ५, ६ ॥

(भाषानुवाद) इस सेना में भीमार्जुन के समान महाबलशाली और महाधनुर्द्धर युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैव्य, विक्रमशाली युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रा-तनय अभिमन्यु और द्रौपदी के प्रतिविन्ध्यादि पांचपुत्र ये सब महारथ हैं ॥ ४, ५, ६ ॥

(भाषाभाष्य) केवलमात्र धृष्टद्युम्न का नाम लेने से यदि द्रोणाचार्य के चित्त में ऐसी भावना हो कि ऐसे एकमात्र वीर से दुर्योधन को ऐसा भय क्यों है इसीलिये दुर्योधन कहते हैं, कि हे आचार्य ! एकमात्र धृष्टद्युम्न ही नहीं है परन्तु विश्वविजयी भीम और अर्जुन के तुल्य धनुर्द्धारी एवं प्रबल पराक्रमी और भी बहुत से वीर हैं जो कि कदापि उपेक्षा के योग्य नहीं हैं, विशेषण और नामों के द्वारा ही उन सबों के गुण और गौरव की व्याख्या करता हूँ । "महेष्वासाः" (महाधनुर्द्धारी) अर्थात् ऐसे अस्त्र को धारणकरने वाले हैं कि जिसके द्वारा दूर से ही शत्रुसैन्य को विध्वस्त किया जासक्ता है । महाधनुर्द्धारी होने पर युद्धकौशल नहीं जानते हों तो धनुर्द्धारण ही वृथा है इसीलिये कहते हैं कि "भीमार्जुनसमाः" अर्थात्

भीमार्जुन के सदृश बाणयुद्ध में विशेष निपुण हैं । बाण-युद्ध-निपुणता और महाधनुर्द्धारी होने पर भी शूरत्व की परम आवश्यकता होती है अतः "शूराः" यह शब्द देकर वक्ष्यमाण वीरों का शूर होना भी जतलाया गया है । "वीर्य्यवान्," "नरपुङ्गव" और "विक्रान्त" इन विशे-षणों के द्वारा उन वीरों के वीरत्व के विषय में और भी विशेषता सूचित की है और "च" शब्द के द्वारा घटो-त्कचादि वीरों का भी ग्रहण किया गया है । उक्त गुणों के सिवाय उन सब वीरगणों में से कोई भी अर्द्धरथी अथवा एकरथी नहीं है परन्तु सबही महारथी हैं क्योंकि महारथी का लक्षण शास्त्रों में निम्न लिखित कहा गया है तल्लक्षण-विशिष्ट वे हैं । यथा :—

"एकादशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥"

जो शस्त्रशास्त्र में बहुत कुशल हैं और अकेले ही ग्यारह हज़ार धनुर्द्धारियों के साथ युद्ध करने में समर्थ होते हैं वे ही महारथी हैं ।

इन तीन श्लोकों के द्वारा पाण्डवपक्ष की सेना के प्रधान प्रधान योद्धाओं के मुख्य मुख्य गुण वर्णन करने के अतिरिक्त, दुर्योधन उन सब का महाधनुर्द्धारी होना, शूर होना, बाणयुद्ध में निपुण होना और महारथी होना सिद्ध करता हुआ उन में असीम वीरत्व होना प्रतिपादन कर रहा है ॥ ४, ५, ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

(अन्वयः) हे द्विजोत्तम! अस्माकं तु ये विशिष्टाः (प्रधानाः) मम सैन्यस्य नायकाः (नेतारः) तान् निबोध (जानीहि) ते (तव) संज्ञार्थं (सम्यक् बोधार्थं) तान् ब्रवीमि (कथयामि) ॥७॥

(भाषानुवाद) हमारे पक्ष में जो प्रधान प्रधान और मेरे सेनानायक हैं उन सबों को देखिये, आप के विदितार्थ उन सबों का नाम लेता हूँ सो सुनिये॥७॥

(भाषाभाष्य) पाण्डवपक्ष के महावीरों के नाम सुन कर यदि द्रोणाचार्य्य के मन में ऐसी भावना उत्पन्न हो कि पाण्डवों के उन वीरों को देखकर दुर्योधन भयभीत हुए हैं, और साथ ही साथ कहदेवें कि तुम इन वीरों से यदि युद्ध करने में अपने को असमर्थ समझते हो तो पाण्डवों से सन्धि क्यों नहीं कर लेते; इसी आशङ्का को दूर करने के अर्थ दुर्योधन अपने पक्ष के शूरवीरों के नाम लेने का उपक्रम करते हुए आचार्य्य के पास युद्ध करने के लिये अपना उत्साह प्रकट कररहा है। उक्त आशङ्का के कारण प्रथम से ही आचार्य्य को उत्साहित करने की इच्छा से "द्विजोत्तम" अर्थात् द्विजों में श्रेष्ठ इस शब्द के द्वारा दुर्योधनने उनकी स्तुति की, और अपने पक्ष के सब से "विशिष्टाः" अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों का एवं "सैन्यस्य नायकाः" अर्थात् अपने पक्ष की सेना में जो लोग नेता हैं उन सबों के नाम सुनाने का उपक्रम करके उनको युद्ध के लिये उत्साहित किया है। तात्पर्य्य यह था कि परपक्ष

में जैसे बड़े बड़े वीर हैं ऐसे स्वपक्ष में भी तो वक्ष्यमाण बड़े बड़े वीर तथा श्रेष्ठ पुरुषगण विद्यमान हैं, सुतरां हमें इस युद्ध से डर क्या है, हमें उत्साहपूर्वक इन वीरों के साथ युद्ध करना चाहिये। इस प्रकार आचार्य्य के चित्त में निरुत्साहजनक दूसरी भावना के उत्पन्न होने का अवसर नहीं दियागया है। "अस्माकं तु" इसके "तु" शब्द से प्रकाश होता है कि दुर्योधन के चित्त में वास्तव में भय का सञ्चार हुआ था, परन्तु दुराग्रह के कारण इस युद्ध के सिवाय सन्धि आदि और कोई प्रस्ताव सुनना नहीं चाहता था,इसलिये ही दुर्योधन आन्तरिकभय को जो बुद्धिमानों के चित्त में "तु" शब्द द्वारा प्रतिभासित होसक्ता है कौशलपूर्वक छुपाकर बाहर से साहस का भान अन्य शब्दों के द्वारा दिखारहा है॥ ७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः॥ ८॥*
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नाना शस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥

(अन्वयः) भवान्, भीष्मः च, कर्णः च, समितिञ्जयः (संग्रामविजयी) कृपः च, अश्वत्थामा, विकर्णः च, सौमदत्तिः (भूरिश्रवाः), जयद्रथः (एते) मदर्थे (मत्प्रयोजनाय) त्यक्तजीविताः (जीवनमपि त्यक्तुमुद्यताः) नाना शस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः (युद्धनिपुणाः) अन्ये च बहवः शूराः (वीराः) सन्ति॥ ८, ९॥

* "जयद्रथ" के स्थान पर कहीं "तथैवच" ऐसा पाठ भी मिलता है।

(भाषानुवाद) आप, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा, जयद्रथ और नाना प्रकार के शस्त्रप्रहार करनेवाले एवं सब के सब ही रणनिपुण अन्यान्य अनेक वीर मेरे निमित्त जीवन त्याग करने के लिये प्रस्तुत हैं॥ ८, ९॥

(भाषाभाष्य) पूर्व श्लोक में जो विशिष्ट पुरुष तथ नायकों के नाम बतानेका उपक्रम किया गया है इस श्लोक के द्वारा उन सबों के नाम कहरहे हैं। यथाः— विशिष्ट पुरुषों में आप (द्रोणाचार्य), भीष्मदेव, कर्ण और समर-विजयी कृप हैं। ये चार विशिष्ट पुरुष और नायकों में अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा और जयद्रथ एवं विविध प्रकार के शस्त्रप्रहरण में निपुण तथा युद्ध में बड़े चतुर ऐसे और भी बहुत से वीर हैं, जो लोग "मदर्थे त्यक्त-जीविताः" अर्थात् मेरे लिये प्राण देने को प्रस्तुत हैं। मुझ से उन लोगों का अत्यधिक प्रेम है इस कारण वे बीर मेरे हितार्थ मृत्युभय से भी पीछे-हटने-वाले नहीं हैं। यहां "अन्ये च" शब्द कहने का तात्पर्य्य यह था कि नायकों में केवल अश्वत्थामादि चारों के नाम सुनकर यदि कहें कि "बस तुम्हारे केवलमात्र वही चार नायक हैं" इसी लिये उस प्रश्नके उठने से प्रथम ही कहते हैं कि केवल ये चारही नहीं हैं, परन्तु "अन्ये च बहवः शूराः" शल्य कृतवर्म्मा प्रभृति और भी बहुत से वीर हैं। विशिष्ट पुरुषों में कृप का नाम कर्ण से पीछे लियागया इस कारण कृप

के अन्तःकरण में जिससे क्रोध का सञ्चार न होनेपावे इसी अभिप्राय को लेकर कृप के नाम के पूर्व प्रशंसा सूचक "समितिञ्जय" अर्थात् समरविजयी ऐसे गुणवाचक शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य्य को सन्तुष्ट करने के अभिप्राय से चतुर दुर्योधन ने विशिष्ट पुरुषों में भीष्म के नाम के पहले आचार्य्य का नाम, और विकर्णादि नायकों के नाम के पहले आचार्य्य के पुत्र अश्वत्थामा का नाम लिया है; क्योंकि प्रशंसित मनुष्यों में यदि कोई सब से प्रथम अपना तथा अपने पुत्र का नाम सुनता है तो उसकी कुछ विशेषरूप से प्रसन्नता होती है ॥ ८, ९ ॥

अपर्य्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्य्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

(अन्वयः) अस्माकं तत् भीष्माभिरक्षितं (सूक्ष्मबुद्धिना भीष्मेण रक्षितं) बलं (सैन्यं) अपर्य्याप्तं (अनन्तं एकादशाक्षौहिणीपरिमितं तस्मात् विपक्षपरिभवे समर्थमित्यर्थः) एतेषां (पाण्डवानां) तु (पुनः) भीमाभिरक्षितं (भीमेन चपलबुद्धिना परिपालितं) इदं बलं पर्य्याप्तं (परिमितं सप्ताक्षौहिणीमात्रात्मकत्वात् न्यूनं अतः अस्मान् अभिभवितुं असमर्थं) ॥ १० ॥

(भाषानुवाद) भीष्मजी के द्वारा रक्षित हमारे सैन्य अपर्याप्त अर्थात् अनेक अधिक हैं और भीमसेन से रक्षित पाण्डवसैन्य पर्य्याप्त अर्थात् बहुत कम हैं ॥ १० ॥

(भाषाभाष्य) उभय पक्ष में ही बड़े बड़े अस्त्र शस्त्र

निपुण और समरचतुर शूरवीर गण विद्यमान हैं, परन्तु आचार्य को उत्साहित करने के लिये दुर्योधन दिखाते हैं कि उभयपक्ष का बल और सैन्यसंख्या समान नहीं है क्योंकि अपने पक्ष में सेना की संख्या अपर्याप्त अर्थात् बहुत (एकादश अक्षौहिणी) और पाण्डवपक्ष में पर्य्याप्त अर्थात् कम (सात अक्षौहिणी मात्र) है। सुतरां पाण्डव पक्ष की अपेक्षा अपने पक्ष में सैन्यसंख्या अधिक है। इस के अतिरिक्त भीष्म जैसे चतुर और तीक्ष्णबुद्धि सेनापति के द्वारा अपने अपर्याप्त सैन्य रक्षित हैं, इसलिये चञ्चल बुद्धि भीमसेन के द्वारा परिचालित पर्य्याप्त अर्थात् कम संख्या की सेना के अपेक्षा मेरा पक्ष प्रबल है;अतः पाण्डवों से युद्ध करने में हमें किसी अवस्था में भी निरुत्साह नहीं होना चाहिये। इस श्लोक में जो "तु" शब्द का प्रयोग किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि, यदि आचार्य्य के चित्त में ऐसी शङ्का हो कि कौरव पक्ष में भय के कारण का सर्वथा अभाव होने पर ऐसी वृथा जल्पना की क्या आवश्यकता है, अतः इस तरह की शङ्का के समाधान के लिये "तु" शब्द के प्रयोग द्वारा दुर्योधन विशेष कर्त्तव्य की सूचना कररहा है। वह विशेष कर्त्तव्य क्या है सो आगेके श्लोक में कहा है।

एक अक्षौहिणी सेना में २१८७० हाथी के सवार, २१८७० रथी, ६५६१० घुड़सवार और १०९३५० पदाति (पैदल) सैन्य अर्थात् सब समेत २१८७०० सैन्य रहते

हैं। इस गणना के अनुसार दुर्योधन के पक्ष में २४०५७० हाथी के सवार, २४०५७० रथी, ७२१७१० घुड़सवार और १२०२८५० पदाति अर्थात् कुल २४०५७०० सैन्य थे। और पाण्डवपक्ष में १५३०९० हाथी के सवार, १५३०९० रथी, ४५९२७० घुड़सवार एवं ७६५४५० पदाति अर्थात् कुल १५३०९०० सैन्य थे। इस प्रकार कुरुक्षेत्र के इस महारण में उभयपक्ष के कुल ३९३६६०० सैन्य एकत्रित हुए थे ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्व्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाऽभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

(अन्वयः) सर्वेषु अयनेषु (व्यूहप्रवेशमार्गेषु) यथाभागं (विभक्ताः निर्दिष्टां स्वां स्वां युद्धभूमिं अपरित्यज्य) अवस्थिताः (सन्तः) सर्वे एव भवन्तः भीष्मं एव अभिरक्षन्तु (यथा अन्यैः युध्यमानः कैश्चित् पृष्ठतः न हन्यते तथा रक्षन्तु) ॥ ११ ॥

(भाषानुवाद) आप सबही अपने अपने विभाग के अनुसार व्यूहप्रवेशपथ में अवस्थानपूर्वक भीष्मदेव की रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

(भाषाभाष्य) इस श्लोक के द्वारा युद्ध के प्रारम्भ में विविध भागों में अवस्थित सैन्यों का कर्त्तव्य निर्देश किया जाता है। युद्धक्षेत्र में वीरता के तारतम्यानुसार भिन्न भिन्न दिशाओं में सैन्यों की अवस्थिति के जो स्थान हैं उनको अयन कहते हैं। सेनापति सकल सैन्यों के नायकरूप से मध्यस्थल पर अवस्थान करते हैं। उस समय सैन्यों का

यह कर्त्तव्य होताहै कि, अपने अपने विभाग की रणभूमि में दृढ़ रहकर सेनापति के आज्ञाधीन रहते हुए युद्ध में निविष्टचित्त सेनापति को चारों ओर से रक्षा करें; क्योंकि युद्धरूप कार्य के सर्वथा सेनापति के ही अधीन होने से उन्हीं की रक्षा से सर्वरक्षा और युद्ध में जयलाभ की सम्भावना रहती है। इसीलिये ही दुर्योधन इस परम कर्त्तव्य को स्मरण कराने के अर्थ आचार्य से उक्त प्रकार कह रहा है ॥ ११ ॥

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(अन्वयः) प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः (भीष्मः) तस्य (दुर्योधनस्य) हर्षं सञ्जनयन् उच्चैः (महान्तं) सिंहनादं विनद्य (कृत्वा) शङ्खं दध्मौ (वादितवान्) ॥ १२ ॥

(भाषानुवाद) प्रतापशाली कुरुवृद्ध पितामह (भीष्मदेव) ने उसके (दुर्योधन) के चित्त में हर्ष उत्पादन करने के निमित्त सिंहनादपूर्वक बहुत ऊंचे स्वर से शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

(भाषाभाष्य) भीष्मदेव ने देखा कि दुर्योधन चित्त से डरता है, परन्तु बाहर से साहस का भान दिखारहा है; अपिच द्रोणाचार्य के मुख से उत्साहव्यञ्जक कोई शब्द निकलता नहीं है, और "भीष्म को ही रक्षा कीजिये" इत्यादि शब्दों के द्वारा उनकी प्रतिष्ठा भी कीगई, इन्हीं कारणों से दुर्योधन के आन्तरिक भय को दूर करके उनको उत्साहित करने के लिये अत्युच्च सिंहनादपूर्वक शङ्ख बजाया। कुरु-

वृद्ध इस विशेषण पदके द्वारा भीष्मदेव की प्रवीणता-सुलभ अभिज्ञता का परिचय दियागया है, इसीलिये उस अभिज्ञता के कारण आचार्य की उपेक्षा और दुर्योधन के भयभाव को सम्यक् जानकर उनका सिंहनाद और शङ्ख बजाना सर्वथा समयानुकूल हुआ था इसमें सन्देह नहीं है। पितामह इस विशेषण के द्वारा आचार्य की अपेक्षा कौरवों के साथ भीष्मदेव की आत्मीयता के गुरुत्व का परिचय दियागया है,जिससे आचार्य की उपेक्षा होने पर भी पितामह भीष्मदेव की कदापि नहीं होसक्ती इस भाव का प्रकाश कियागया है। प्रतापवान् इस विशेषण के द्वारा भीष्मदेव का युद्धविजेतृत्वरूप प्रतापशाली होना निर्दिष्ट किया गया है, सो युक्तियुक्तही है क्योंकि भीष्मबध शिखण्डी को आश्रय करकेही हुआ था अन्यथा ऐसे प्रतापशाली योद्धा का बध असम्भव था ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्य्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाऽभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

(अन्वयः) ततः (भीष्मप्रवृत्त्यनन्तरं) शङ्खाः च भेर्य्यः च पणवानकगोमुखाः (एते वाद्यविशेषाः) सहसा (तत्क्षणात्) एव अभ्यहन्यन्त (वादिताः) सः शब्दः तुमुलः (महान्) अभवत् (अभूत्) ॥ १३ ॥

(भाषानुवाद) अनन्तर शङ्ख, भेरी, पणव, आनक, गोमुख प्रभृति वाद्य-यन्त्रसमूह बजाये जिस से महान् शब्द हुआ ॥ १३ ॥

(भाषाभाष्य) यह प्रसिद्ध है कि भीष्मदेवकी मृत्यु दूसरे से नहीं होसक्ती है क्योंकि वे इच्छामृत्यु हैं; जब वे स्वयं मरने की इच्छा करेंगे तबही उनकी मृत्युहोगी नहीं तो अन्य किसी से उनकी मृत्यु होनी असम्भव है। जब ऐसे मृत्युभयशून्य भीष्मपितामह ने रणोत्साहमें प्रवृत्ति दिलाने के लिये सब से प्रथमही उत्साह दिखाया तब अन्य कौरवगण निर्भय होगये इसीकारण सबों ने उत्साहपूर्वक रणवाद्यों को बजाया। "स शब्दस्तुमुलोऽभवत्" अर्थात् वह शब्द महान् गहन हुआ था, इस वाक्य को कहने का विशेष तात्पर्य यह था कि, यद्यपि कौरवों के रणवाद्यों का शब्द अत्यन्त महान् हुआ था तथापि उस शब्द से पाण्डवगण विचलित नहीं हुए क्योंकि अग्रिम श्लोक से ऐसाही प्रकट कियागया है ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

(अन्वयः) ततः श्वेतैः हयैः (अश्वैः) युक्ते महति (अप्रधृष्ये) स्यन्दने (रथे) स्थितौ माधवः (श्रीकृष्णः) पाण्डवः (अर्जुनः) च एव दिव्यौ (अप्राकृतौ) शङ्खौ प्रदध्मतुः (प्रकर्षेण वादितवन्तौ) ॥ १४ ॥

(भाषानुवाद) अनन्तर श्वेतवर्ण के अश्ववाले रथ पर अवस्थित श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्यशङ्खों को बजाया ॥ १४ ॥

(भाषाभाष्य) श्वेत अश्वयुक्त रथ के उल्लेख का

तात्पर्य विशेष करके यह है कि यह रथ साधारण रथ नहीं है, साक्षात् अग्निदेव से यह रथ मिला था इसीसे उस रथ पर स्थित वीरों को साधारण शत्रुओं से कुछ भी भय नहीं है। पाण्डवपक्ष में श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन के सब से प्रथम शङ्ख बजाने का कारण यह है कि,धर्मात्मा पाण्डव-गण श्रीकृष्ण महाराज के परामर्श विना कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करते थे,और अर्जुन श्रीकृष्णजी के अनुगत एवं प्रिय सखा थे इससे श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन पाण्डवों के कार्यों में प्रधान नायक थे। इसीलिये पाण्डवपक्ष से श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन ने कौरवों की रणाभिलाषा को स्वीकारपूर्वक प्रतियोगिता के लिये प्रथम शङ्खनिनाद किया। कौरवों के शङ्खनिनाद के पश्चात् पाण्डवों के शङ्खनिनाद से यही सूचित होता है कि,पाण्डवगण विद्रोहाचरण के लिये प्रथम प्रवृत्त नहीं हुए थे किन्तु दुष्ट दुर्योधन के पक्षवालोंने ही भारतीय वीरों के शोणित से पृथिवी को कलङ्कित करने का प्रयत्न पहिले किया था; तब अगत्या अपने अधिकार और धर्म्म की रक्षा के लिये पाण्डवों को युद्ध करने के लिये प्रवृत्त होना पड़ा ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्चमहाबाहुःशङ्खान्दध्मुःपृथक्पृथक्॥१८॥

(अन्वयः) हृषीकेशः (श्रीकृष्णः) पाञ्चजन्यं, धनञ्जयः (अर्जुनः) देवदत्तं, भीमकर्मा (सर्वलोकभयङ्करकर्मकारी) वृकोदरः (भीमः) महाशङ्खं पौण्ड्रं, कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं, नकुलः सहदेवः च सुघोषमणिपुष्पकौ (पाञ्चजन्यादीनि मणिपुष्पकान्तानि शङ्खनामानि) दध्मौ । परमेष्वासः (प्रकृष्टधनुर्धरः) काश्यः च, महारथः शिखण्डी च, धृष्टद्युम्नः, विराटः च-अपराजितः सात्यकिः च, हे पृथिवीपते ! (धृतराष्ट्र !) द्रुपदः, द्रौपदेयाः (द्रौपदीतनयाः) च, महाबाहुः सौभद्रः च, सर्वशः पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः ॥ १५, १६, १७, १८ ॥

(भाषानुवाद) श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य शङ्ख, अर्जुन ने देवदत्तनामक शङ्ख, और भीमकर्मा वृकोदर (भीमसेन) ने पौण्ड्रनामक महाशङ्ख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजयनामक और नकुल ने सुघोषनामक एवं सहदेव ने मणिपुष्पनामक शङ्ख (बजाया), तथा महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद राजा, द्रौपदी के पुत्रगण और महाबाहु सुभद्रातनय अभिमन्यु, हे राजन्! इन लोगों ने पृथक् पृथक् शङ्ख बजाये ॥ १५, १६, १७, १८ ॥

(भाषाभाष्य) " हृषीकेश " शब्द का अर्थ सर्व इन्द्रियों का प्रेरक है, अर्थात् सर्वेन्द्रियों के प्रेरक सर्वान्तर्यामी कूटस्थ चैतन्यरूपी श्रीभगवान् ही हृषीकेश शब्द से अभिहित होने योग्य हैं । इस श्लोक में श्रीभगवान् श्रीकृष्ण महाराज के लिये और कोई दूसरा नाम न लेकर "हृषीकेश" शब्द का प्रयोग करने से तात्पर्य्य यह है कि कूटस्थ चैतन्यरूपी श्रीभगवान् के इङ्गित से इन्द्रियों की कार्य में प्रवृत्ति होती है । जीव कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ही कार्य करता है । जीव का सङ्कल्प कैसा भी हो परन्तु इन्द्रियों में कार्यसम्पादन की शक्ति न रहने से कार्य की सिद्धि नहीं होसक्ती है । श्रीभगवान् की सत्ता से ही अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों के द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि तथा सर्व कार्य होते रहते हैं । पञ्च सूक्ष्मभूत के सत्त्वांश से पञ्चज्ञानेन्द्रिय और रजांश से पञ्चकर्म्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है । श्रीभगवान् के आश्रय ही से स्वभाव से नियोजित पञ्चभूतों की स्वाभाविक क्रिया द्वारा धर्म्म का पालन होता है, अन्यथा जीव के मन द्वारा चालित होनेपर जो कार्य होता है सो अधर्म्मरूपी विरुद्ध कार्य होता है; सुतरां भगवत्परायण पञ्चपाण्डवों का परमात्मा के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध दिखाने के अर्थ ही "हृषीकेश" शब्द का प्रयोग कियागया है । श्रीअर्जुन के लिये "धनञ्जय" शब्द के प्रयोग का तात्पर्य्य यहहै कि जिन्हों ने सब दिशाओं को जीतकर परिपूर्ण धन अर्थात् ऐश्वर्यों का संग्रह किया है ।

इस नाम से अर्जुन के महत्त्व और पाण्डवों में प्रधानत्व की सिद्धि करते हुए उनके आध्यात्मिक स्वरूप का भी सम्बन्ध दिखाया गया है। क्योंकि पञ्चतत्त्वों में से सृष्टि क्रिया के विचार से मध्यशक्ति होने के कारण अग्नितत्त्व का ही प्राधान्य है। जो पाचनशक्ति अधिक रखता है वही अधिक बलवान् होता है अतः वृकनामक अग्नि से असाधारण पाचनशक्तिविशिष्ट भीम स्वरूप और बल दोनों से ही असाधारण थे, यह "वृकोदर" शब्द से सूचित किया गया है; और भीमकर्म्मा अर्थात् अद्भुतकर्म्मारूपी विशेषणपद से वायुपुत्र भीम का महत्त्व और भी निश्चित कियागया है। कुन्ती देवी ने प्रबल तपस्या करने के अनन्तर युधिष्ठिर को धर्म्मराज की कृपा से प्रसव किया था, उसी तपशक्ति और क्षेत्र के माहात्म्य का कथन करके राजा युधिष्ठिर के असाधारण महत्त्व का वर्णन किया गया है। राजसूययज्ञ के अनुष्ठान द्वारा महत्त्वप्राप्ति तथा पाण्डवों में प्रधानत्व बोध कराने के लिये राजा शब्द का प्रयोग किया गया है। युद्ध में जयलाभ निश्चित होने के कारण जो अटल धैर्य को प्राप्त करता है वही युधिष्ठिर है। इस युधिष्ठिर शब्द द्वारा स्थूल अर्थ से राजा युधिष्ठिर का महत्त्व दिखाया गया है। स्वनाम प्रसिद्ध पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष और मणिपुष्पक इन छओं शङ्खों के नाम लेने से यह अभिप्राय था कि कुरुपक्ष में ऐसा एक भी प्रसिद्ध शङ्ख नहीं है जिसका कि नाम उल्लेख होसक्ता है।

इससे कौरवों की न्यूनता सूचित कीगई है। काशिराज आदि के नाम लेनेसे यह अभिप्राय है कि, केवल श्रीकृष्ण महाराज और पञ्च पाण्डवों ने ही शङ्ख नहीं बजाये किन्तु काशिराजादि के तुल्य पाण्डवों की ओर के प्रबलप्रतापी और भी बहुत से वीरों ने महान् उत्साह के साथ अपने अपने शङ्खों को बजाया।

वेदोंके सब स्थल जिस प्रकार त्रिविध अर्थ से पूर्ण होते हैं उसी प्रकार उपनिषद्साररूपी श्रीगीताजी के सब श्लोकों का त्रिविध अर्थ है; परन्तु अधिकारविरोध से बुद्धिभेद होने के भय के कारण सब अर्थ सब समय कहने से लोकशिक्षा में हानि होसक्ती है। विशेषतः आध्यात्मिक उन्नति के लक्ष्य से सर्वहितकर अर्थ ही सर्वदा प्रकाशित करने की रीति सदा से प्रचलित है। एक भाव से अतिरिक्त दूसरा भाव यदि कहीं प्रकाशित करने की विशेष आवश्यकता हो तो वहीं किया जासक्ता है। इन श्लोकों में केवल छः शङ्खों का पृथक् पृथक् नाम लियागया है अतः केवल छः शङ्खों के नाम लेने की विशेषता और विरुद्धपक्ष के शङ्खों के नाम लेने की अनावश्यकता इत्यादि कारण गभीर विज्ञानसे युक्त है। कूटस्थ चैतन्यरूपी श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जीवत्रितापहारी भक्तमनोमन्दिरविहारी भक्तिरससिञ्चनकारी बांसुरी की ध्वनि एक ओर, और दूसरी ओर असुरत्रासकारी धर्म्मयुद्ध में जयप्रदानकारी देवमनोविनोदकारी पाञ्चजन्य शङ्खनाद का रहस्य केवल योगीगण

ही साक्षात् रूप से सदा समझ सके हैं। वाच्य वाचक रूप से नाद और मन्त्रों की महिमा और उनका स्वरूप संक्षेपरूप से वर्णन करने के अभिप्राय से स्मृतियों में कहा है। यथाः—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकं,
स्पन्दश्चाऽपि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा।
सृष्टिश्चाऽपि तथाऽऽदिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी,
शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः ॥ १ ॥
साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति,
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः,
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा ॥ २ ॥

जहां कुछ कार्य है वहां कम्पन अवश्य होता है, और जहां कम्पन है वहां शब्द अवश्य होगा। इसी नियम से साम्यावस्था प्रकृति में सृष्टि की उत्पत्ति के समय जो प्रथम कम्पन हुआ उसी कम्पन का शब्द ओंकार है। साम्यावस्था प्रकृति के प्रथम कम्पन से जो शब्द हुआ वह ब्रह्मा विष्णु और शिवरूप देवत्रयात्मक सगुण ब्रह्म के परमपवित्र रूप का वाचक है। उसी तरह से वैषम्यावस्था प्रकृति के कम्पन से बहुत से शब्द उत्पन्न हुए वेही उपासना करने के अर्थ बीजमन्त्र हुए। इसका तात्पर्य्य यह है कि वैषम्यावस्था प्रकृति के ऊर्द्धगामी सब स्तरों से लेकर श्रीभगवान् से साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाली साम्यावस्था प्रकृति के निकटवर्ती

स्तर पर्य्यन्त सब प्राकृतिक विभाग की कार्यकारी अवस्था के अलग अलग नाद हैं। उन्हीं नादसमूह को अन्तर्मुख योगिगण सुन सक्के हैं, और वेही मन्त्ररूप होकर साधक को सिद्धि देनेवाले होते हैं। ऊर्द्धगामी और अधोगामी कर्म प्रवाह से पुण्य और पाप का सम्बन्ध है। और वही रूपान्तर में निवृत्ति और प्रवृत्ति राज्य के अधिकारी देव और असुर से सम्बन्धयुक्त है। निम्नगामी कर्मरहस्य अर्थात् पापप्रवृत्ति की आसुरी शक्ति के विस्तारित वर्णन करने की अनावश्यकता होने के कारण, ऊर्द्धगामी कर्मरहस्य अर्थात अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद दैवी सम्पत्ति के अधिकारसमूह के वर्णन करने सेही लोककल्याण होसक्ता है। इसी कारण दोनों पक्ष के प्रधान पुरुषों में से केवल दैवीपक्ष के छः व्यक्तियों के छः शङ्खों के नाम लियेगये हैं। प्रथम शङ्खध्वनि से साक्षात् परमात्मा कूटस्थ चैतन्य श्रीभगवान् का ही सम्बन्ध है, और अवशिष्ट पांच प्रकार की शङ्खध्वनि से पञ्चतत्त्वात्मक पञ्च अधिष्ठातृदेवों से सम्बन्ध है। इसी कारण समाधि भाषा से पूर्ण श्रीगीताजी में केवल छः शङ्खों के नाम और उनकी ध्वनियों का वर्णन कियागया है॥ १५,१६,१७,१८॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्॥ १९॥

(अन्वयः) तुमुलः (अतिभैरवः) सः घोषः (पाञ्चजन्यादिशङ्खध्वनिः) एव नभः (आकाशं) च पृथिवीं च अभ्यनुनादयन्

(प्रति ध्वनिभिरापूरयन्) धार्त्तराष्ट्राणां (धृतराष्ट्रतनयानां तत्पक्षीयानाञ्च) हृदयानि व्यदारयत् (विदीर्णानि कृतवान्) ॥ १९ ॥

(भाषानुवाद) उस महान् शब्दने आकाशमण्डल और पृथिवी को प्रतिध्वनि से परिपूर्ण और धृतराष्ट्र के पक्षवालों के हृदय को विदीर्ण किया ॥ १९ ॥

(भाषाभाष्य) जिस समय कौरवों ने अपने अपने शङ्खादि वाद्यों को बहुत उत्साह से बजाते हुए रणोद्यम को सूचित किया उस समय पाण्डवों के हृदय में किसी प्रकार का चाञ्चल्य उत्पन्न नहीं हुआ, बरन् पाण्डवों ने उत्साह के साथ उस युद्ध के आमन्त्रण को स्वीकार करते हुए अपने अपने शङ्खों को बजाया। पाण्डवों की ओर से इसप्रकार निर्भयतासूचक शङ्खवादन को सुनते ही कौरवों के चित्त में भय का उदय हुआ, इसलियेही सञ्जय ने कहा कि पाण्डवों की शङ्खध्वनि ने "धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्" कौरवों के हृदयों को विदीर्ण किया, अर्थात् उन में हृदय – विदारकसा दुःखदायी भय उत्पन्न हुआ। सञ्जय के इसप्रकार के कथनसे कौरवोंके चित्तकी दुर्बलता और पाण्डवपक्ष की तेजस्विता का भाव सूचित होता है। कौरवगण अधर्म्माचरण के साथ और पाण्डवगण धर्म्मतः प्राप्य अधिकार की रक्षार्थ युद्ध करनेके लिये आये हैं, इसीलिये ही धर्म्म के बल से पाण्डवों के हृदय में जो उत्साह साहस और निर्भीकता है सो धर्म्मविरोधी कौरवों में नहीं है। इसी कारण कौरवगण पाण्डवों की उत्साहजनक

शङ्खध्वनि को सुनतेही त्रासित होगये। पाण्डवों की शङ्ख-ध्वनि का विशेष महत्त्व सूचन करने के लिये सञ्जय ने उल्लेख किया कि " नभश्च पृथिवीञ्चैव .... अभ्यनु-नादयन् " अर्थात् नभोमण्डल और पृथिवी को प्रतिध्वनि से परिपूर्ण किया ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥ २० ॥

(अन्वयः) हे महीपते ! अथ (भीतिप्रत्युपस्थितेरनन्तरं) कपिध्वजः पाण्डवः (अर्जुनः) धार्त्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् (युद्धो-द्योगेऽवस्थितान्) दृष्ट्वा शस्त्रसम्पाते (युद्धार्थं शस्त्रप्रक्षेपे) प्रवृत्ते (प्रयोगाऽभिमुखे सति) धनुः उद्यम्य तदा हृषीकेशं इदं (वक्ष्य-माणं) वाक्यं आह ॥ २० ॥

(भाषानुवाद) हे महीपते ! (धृतराष्ट्र) कपिध्वज अर्जुन कौरवों को युद्धार्थ अवस्थित देखकर उस युद्ध के प्रारम्भ समय में धनुको उठाकर श्रीकृष्ण महाराज से कहने लगे ॥ २० ॥

(भाषाभाष्य) पाण्डवों की निर्भयताका भाव अब इस श्लोक में अर्जुन के आचरण द्वारा सञ्जय दिखारहे हैं। पूर्व श्लोक में कौरवों के हृदय की दुर्बलता सूचित की गई है, उस दुर्बलता के कारण उनको चाहिये था कि युद्धभूमि को छोड़कर भाग जावें अथवा पाण्डवों से सन्धि करके उनका प्राप्य अधिकार उनको देवें परन्तु हठ-

कारिता के साथ युद्धोद्यम को न छोड़ना ही ठानकर युद्ध-भूमि में वे प्रस्तुत रहे, इसी विशेष बात को "अथ" अर्थात् अनन्तर इस शब्द के द्वारा सूचित करते हुए उसके अनन्तर अर्जुन ने जो किया सो कहा गया है। जब कौरवों को उस प्रकार हठ करते हुए देखा तब निर्भीक पाण्डवों की ओर से पहिले ही अर्जुन धनु को उठाकर युद्ध के लिये प्रस्तुत हुए। उभयपक्ष के बीच में अर्जुन का इस प्रकार आचरण पाण्डवपक्ष की निर्भयता का परिचायक है। न्याय पक्षपाती होने के कारण निःशङ्कभाव से अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो कुछ कहा है सो आगे कहते हैं॥ २०॥

अर्जुन उवाच।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ २२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

(अन्वयः) अर्जुनः उवाच। हे अच्युत! (कृष्ण!) उभयोः सेनयोः मध्ये मे (मम) रथं स्थापय। (कथमर्जुनेन रथं स्थापय इत्युक्तमित्याशङ्कयाऽऽह) अहं एतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् यावत् निरीक्षे (पश्यामि), (किञ्च) अस्मिन् रणसमुद्यमे (युद्धप्रारम्भे) कैः सह मया योद्धव्यम्। (यावदेतत् निश्चिनोमि, तावत् रथं स्थापय इत्यभिप्रायः)। (अपरञ्च) अत्र (कुरुक्षेत्रे) युद्धे

दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य प्रियचिकीर्षवः (प्रियं कर्तुमिच्छवः) ये एते (वीराः) समागताः, योत्स्यमानान् (संग्रामसमुत्सुकान् तान्) अहं अवेक्षे ॥ २१,२२,२३ ॥

(भाषानुवाद) हे अच्युत ! दोनों सेनाओं के बीच मेरे रथ को स्थापन करो, मैं युद्ध की इच्छा से अवस्थित इन लोगों को तबतक देखूं कि इस युद्ध में मुझको किन के साथ युद्ध करना है। दुर्बुद्धि दुर्योधन के हितेच्छु युद्ध करनेवाले ये योद्धा जो इस युद्ध में इकट्ठे हुए हैं उनको मैं देखूंगा ॥ २१,२२,२३ ॥

(भाषाभाष्य) अर्जुन ने श्रीकृष्ण से क्या कहा है सो इन श्लोकों में कहा गया है। अर्जुन के वाक्यों में से "सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मे" अर्थात् "उभय सेनाओं के बीच मेरे रथ को स्थापन कीजिये" इन वाक्यों को सुनकर कोई प्रश्न कर सक्ता है कि, सर्वेश्वर भगवान् से अर्जुन का इस प्रकार आदेश करना क्या उचित है? इस की मीमांसा यह है कि, भगवान् भक्तवत्सल हैं इसी लिये भगवान् के पास से भक्त का कुछ भी अप्राप्य नहीं है। और यहां भक्त अर्जुन का जब भगवान् पर इतना अधिकार है कि उन पर आज्ञा भी करते हैं तो इसके द्वारा यह भाव सूचित हुआ कि ऐसे भक्तवत्सल भगवान् जिनके सहायक हैं ऐसे पाण्डवों का युद्ध में जयलाभ अवश्यम्भावी है, इस में कोई सन्देह नहीं है। अच्युत शब्द के द्वारा यह भाव सूचित होता है कि जिनकी च्युति देशतः कालतः अथवा

वस्तुतः कदापि सम्भव नहीं है । युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के द्वारा उनकी च्युति कदापि नहीं होगी अतः ऐसे सारथी की सहायता से पाण्डवों को जयलाभ अवश्य होगा। अब देखना चाहिये कि उभय सेनाओं के बीच में रथ स्थापन करने का क्या प्रयोजन था, इसका समाधान "यावदेतान्निरीक्षेऽहं" इत्यादि वाक्यों से लेकर "प्रिय-चिकीर्षवः" तक के वाक्यों पर विचार करने से होजायगा। उन वाक्यों में "योद्धुकामानवस्थितान्" कहा है। "योद्धुकामान्" अर्थात् सन्धि आदि के अभिप्राय से नहीं, प्रत्युत युद्ध की इच्छा से। "अवस्थितान्" अर्थात् भय होने पर भी पलायनतत्पर नहीं प्रत्युत अवस्थित। इसी लिये ऐसे हठकारी "एतान्" अर्थात् कौरवों को और उनके पक्षवालों को देख लूँ, ऐसा कहाहै। अब यहां यह शङ्का हो सक्ती है कि अर्जुन स्वयं योद्धा हैं और युद्ध करने के लिये ही आये हैं तो फिर साधारण दर्शकों की भांति क्या देखना चाहते हैं? इसी लिये कहा है कि "कैर्मया सह योद्धव्य-मस्मिन् रणसमुद्यमे" अर्थात् इस रणोद्यम में किस के साथ मुझे युद्ध करना है। सजातीयों और बन्धुवर्गों के परस्पर में यह जो युद्ध का उद्योग हुआ है इस उद्योग में "मया कैः सह योद्धव्यम्" अर्थात् मुझे किसके साथ प्रतियोगितापूर्वक युद्ध करना है। अथवा "कैर्मया सह योद्धव्यम्" अर्थात् कौन मुझ से प्रतियोगिता के साथ युद्ध करेंगे, यह एक बहुतही कौतुकावह समस्या का विषय

है, इसी विषय के निश्चय के लिये दोनों सेनाओं के बीच में रथस्थापन करने का प्रयोजन है। कहां तो बान्धवों की परस्पर में सन्धि होनी चाहिये और कहां यहां उसके विपरीत युद्ध की इच्छा ! दुर्योधन की यह विपरीत बुद्धि विनाश की सूचना करती है, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि भीष्म और द्रोण सदृश प्राज्ञ और प्रवीण पुरुषों ने भी दुर्योधन की कुलनाशक और प्राणनाशक इस दुर्बुद्धि को न हटाकर उसी युद्धाग्नि में निज जीवन की आहुति प्रदान करने के लिये वे भी युद्धक्षेत्र में उपस्थित हुए हैं इसी लिये ही ये सब आततायी अर्जुन के द्रष्टव्य हैं। भगवत्कृपाप्राप्त श्रीमान् अर्जुन अपनी धर्म्मबुद्धि के कारण यह अनुमान करते थे कि देवांश से उत्पन्न श्रीभीष्मदेव और आचार्य द्रोण आदि महत्पुरुषगण अवश्य ही अन्याय और अधर्म्म के पक्षपाती नहीं होंगे, इस कारण वे स्वयं देखना चाहते थे कि शत्रुओं के दल में वे हैं या नहीं ॥ २१,२२,२३ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५॥

(अन्वयः) सञ्जयः उवाच । हे भारत ! (धृतराष्ट्र !) गुडाकेशेन

(अर्जुनेन) एवं (पूर्वोक्तप्रकारेण) उक्तः (कथितः सन्) हृषीकेशः उभयोः सेनयोः मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतः (भीष्मद्रोण प्रभृतीनां) सर्वेषां महीक्षितां (राज्ञां) च (समीपे) रथोत्तमं स्थापयित्वा "हे पार्थ ! समवेतान् एतान् कुरून् पश्य" इति उवाच ॥ २४,२५ ॥

(भाषानुवाद) हे भारत ! गुड़ाकेश (अर्जुन) के इस प्रकार कहने पर (भगवान्) हृषीकेश ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्मद्रोणादि समस्त राजाओं के सामने उस सर्व श्रेष्ठ रथ को स्थापन करके कहा "हे पार्थ ! एकत्रित हुए इन कौरवों को देखो" ॥२४,२५ ॥

(भाषाभाष्य) पूर्वोक्त श्लोक में अर्जुन के कथनानन्तर भगवान् अहिंसारूप धर्म्म को ही आश्रय करके अर्जुन को युद्धरूप हिंसाकार्य से निवृत्त होने के लिये सम्भवतः परामर्श दे सक्ते हैं, धृतराष्ट्र के चित्त में यदि कदाचित् ऐसी आशा हो इसी लिये उसके होने की सम्भावना समझ कर उसके निवारणार्थ अर्जुन के निदेशानुसार श्रीकृष्ण महाराजने जो कार्य किया है धृतराष्ट्र के पास इस श्लोक से सञ्जय उसे कहरहे हैं। धृतराष्ट्र को "भारत" शब्द के द्वारा सम्बोधन करने का अभिप्राय यह था कि कौरव और पाण्डवों के आदि पुरुष धर्मात्मा महाराजा भरत थे। सुतरां एक ही वंश के सन्तानों के परस्पर में इस प्रकार विवाद होना उचित नहीं है। एकमात्र धृतराष्ट्र ही कौरव और पाण्डवों में प्रवीण तथा अभिभावक स्वरूप हैं, अतः उनको

चाहिये था कि इस कुरुपाण्डवविवाद को मिटादे, इसी लक्ष्य से धृतराष्ट्र को सञ्जय ने "भारत" शब्द से सम्बोधन किया है। अर्जुन के लिये इस श्लोक में "गुडाकेश" शब्द का प्रयोग कियागया है। "गुडाकायाः निद्रायाः ईशः कर्त्ता" अर्थात् जिन्होंने निद्रा को अपने वश में कर लिया है वेही "गुडाकेश" अर्थात् जितनिद्र होने से सावधान हैं। इसीलिये यहां इस "गुडाकेश" शब्द के प्रयोगद्वारा यही सूचित होता है कि अर्जुन ने सावधानता के साथ विचारपूर्वक ही रथस्थापनरूप कार्य का आदेश किया था। सुतरां उसके निर्देशानुसार कार्य करने में श्रीभगवान् के चित्त में किसी प्रकार के क्रोध के उत्पन्न होने की अथवा अर्जुन को इस युद्धरूप हिंसाकार्य से प्रतिनि-वृत्त होने का परामर्श देने की सम्भावना नहीं है। प्रत्युत भगवान् ने अर्जुन की इच्छानुसार ही दोनों सेनाओं के बीच में भीष्मद्रोणप्रमुख राजाओं के सन्मुख अर्जुनके रथ को लेजाकर स्थापन किया। कौरवों में भीष्म और द्रोण का सर्वापेक्षा प्राधान्यसूचन करने के लिये ही उनके नाम का उल्लेख पृथक् किया गया है; विशेषतः भीष्म और द्रोण के प्रमादजनित मोह को स्पष्टरूप से अर्जुन को सूचित कराने के अर्थ इन दोनों नामों का उल्लेख श्रीभगवान् ने किया है। "रथोत्तमं" अर्थात् सर्वश्रेष्ठ रथ, क्योंकि यह रथ अर्जुन को भगवान् अग्निदेव से मिला था, और इस के अतिरिक्त स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण महाराज सारथी के पद

को स्वीकार करते हुए इस रथ पर विराजमान हैं। श्री-
भगवान् के लिये "हृषीकेश" अर्थात् सर्वजन के निगूढ़
अभिप्राय को जाननेवाले। इस शब्द का प्रयोग होना
यही सूचित करता है कि अपने कुटुम्बी तथा बन्धुबान्धवों
को रणभूमि में उपस्थित देखने से अर्जुन के चित्त पर
शोक मोहादि का बड़ाभारी प्रभाव पड़ेगा इस बात को
"हृषीकेश" अर्थात् अन्तर्यामी होने के कारण पहले से ही
जानकर श्रीभगवान् "हे पार्थ! युद्धक्षेत्र में एकत्रित कौरवों
को देख" इस वचन के द्वारा परवर्ती भावों को रोकने का
यत्न कररहे हैं। इसमें "पार्थ" इस सम्बोधन के द्वारा
इस भाव की सूचना करना नहीं समझना चाहिये कि
"पृथा" अर्थात् स्वाभाविक शोक मोहग्रस्त स्त्री से उत्पन्न
होने के हेतु अर्जुन के चित्त में भी स्त्रीस्वभाव के साथ
क्षेत्रज सन्तति होने से विशेष सम्बन्ध होने के कारण शोक
मोह का उदय शीघ्रही होजायगा। अथवा वीरपुरुष के
लिये उसके पिता का पुत्र न कहकर माता का पुत्र कहना
उसकी वीरता और क्षत्रियता में शोक मोहादि का कलङ्क
आरोपण करनाही है। प्रत्युत "पार्थ" इस शब्द के द्वारा
मेरे पिताकी भगिनी के पुत्र हो इसलिये तुम्हें शोक मोह
में अभिभूत नहीं होना चाहिये इस भाव की सूचना कररहे
हैं। पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र में शोक मोहादि का लेशमात्र
भी नहीं है अतः अपना सम्बन्ध याद दिलाकर शोक मोह
से अभिभूत न होने देने की चेष्टा करना श्रीभगवान् का

युक्तियुक्तही है । " पश्य " शब्द के प्रयोग करने का यह अभिप्राय है कि मैं सारथी होकर सावधानता के साथ इस युद्ध में तुम्हारी रक्षा करूंगा इसलिये तुम निःशङ्क होकर विरुद्धपक्ष के योद्धाओं को देखो । इसी " पश्य " शब्द के भीतर " शोक मोहादि द्वारा अभिभूत मत होना " यह भाव भी निगूढ़रूप से निहित है ॥ २४, २५ ॥

तत्राऽपश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथपितामहान् ।
आचार्य्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥

(अन्वयः) तत्र पार्थः उभयोः सेनयोः (मध्ये) अपि स्थितान् पितॄन् (पितृसदृशान्) अथ (तथा) पितामहान् आचार्य्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् तथा सखीन् श्वसुरान् सुहृदः च एव अपश्यत् ॥ २६ ॥

(भाषानुवाद) वहां अर्जुनने दोनों सेनाओं में ही पितृसदृश व्यक्ति, पितामह, आचार्य्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर और सुहृदों को उपस्थित देखा ॥ २६ ॥

(भाषाभाष्य) तदनन्तर अर्जुन ने देखा कि दोनों पक्ष की सेनाओं में ही पूज्य अथवा स्नेहार्ह लोग उपस्थित हैं । जैसे कौरवों में भूरिश्रवादि पितृसदृश व्यक्ति, भीष्म सोमदत्तादि पितामहगण, शल्य शकुनि आदि मातुलगण, द्रोणकृपादि आचार्य्यगण, इत्यादि पूजनीय व्यक्ति हैं, एवं

लक्ष्मणादि पुत्रगण और उनके पुत्रगण अर्थात् पौत्रगण, अश्वत्थामाजयद्रथादि मित्रगण तथा कृतवर्मा भगदत्तादि सुहृद्गण विद्यमान हैं। सुहृद् शब्द के द्वारा मातामहादि और जितने आत्मीय तथा उपकारक व्यक्ति हैं उन सबों से भी तात्पर्य्य है। जैसे उक्त कौरवों से अर्जुन का सम्बन्ध है उसी तरह अपने पक्ष की सेना में भी भ्रातृपुत्रपौत्रादि सम्बन्धयुक्त अनेक योद्धा हैं अत एव "सेनयोरुभयोरपि" इन शब्दों का प्रयोग हुआ है॥ २६॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥ २७॥

(अन्वयः) सः कौन्तेयः (अर्जुनः) अवस्थितान् तान् सर्वान् बन्धून् समीक्ष्य परया कृपया आविष्टः विषीदन् (अनुतापं कुर्वन्) इदं अब्रवीत्॥ २७॥

(भाषानुवाद) कुन्तिपुत्र अर्जुन ने उन समुपस्थित सब बान्धवों को देख परमकरुणाविष्ट होकर विषादयुक्तभाव से कहा॥ २७॥

(भाषाभाष्य) मनुष्य भावों का दास है। भावशून्य होकर मनुष्यान्तःकरण एक क्षण भर के लिये भी स्थित नहीं रहसक्ता है, इसी कारण वैदिकदर्शनों का सिद्धान्त यह है कि एकही प्रकार का कार्य भिन्न भिन्न कर्त्ताओं के हृदय के भिन्न भिन्न भावों के अनुसार किया जाने से पाप अथवा पुण्यरूप में परिणत होकर दुःख और सुखरूप विभिन्न फलप्रदान किया करता है। उदाहरण स्थल पर

कहसक्के हैं कि इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से जो भोग किया जाता है सो सब बन्धन का हेतु होता है, परन्तु वही भोग यदि भगवद्भाव से युक्त होकर हो तो मुक्ति का कारण होगा; जैसे रसना की तृप्ति के लक्ष्य से जो भोजन किया जाय उससे बन्धन होगा, परन्तु वही भोज्यपदार्थ यदि इष्टदेव को अर्पित होकर प्रसादबुद्धि से ग्रहण किया जाय तो मुक्ति का कारण होगा । इसी सिद्धान्त के अनुसार शास्त्रों में एकही हिंसात्मक कार्य को कहीं धर्म्म और कहीं अधर्म्म कहा है । अतः शास्त्रविहित हिंसा कार्य्य में अधर्म्म बोध होना तात्त्विकज्ञान की प्रतिबन्धकरूप मोहयुक्त विपरीत बुद्धि का ही कार्य है । यहां समुपस्थित बान्धवों को देखकर उन लोगों में अपनी ममत्वबुद्धि होने के कारण प्रारम्भित युद्धरूप क्षात्रधर्म्म अर्थात् शास्त्रविहित स्वधर्म्म से निवृत्त करने के लिये जिस महान् अनर्थकारिणी प्रवृत्ति ने अर्जुन के विवेकज्ञान को समाच्छन्न किया है, उसके प्रभाव से अर्जुन की जो अवस्था प्रारम्भ हुई है उसको इस श्लोक के द्वारा प्रकट किया जारहा है ।

अर्जुन के लिये इस श्लोक में "कौन्तेयः" अर्थात् कुन्ती का पुत्र, इस शब्द का प्रयोग किया गया है उसका तात्पर्य्य यह है कि स्त्रियों का चित्त बहुतही कोमल होता है, इससे यदि कोई कार्य्य कठोर हो एवं वह चाहे जितना ही बड़ा कर्त्तव्य कर्म्म हो, परन्तु स्वाभाविक चित्तदौर्बल्य के कारण स्त्रियां प्रायः ऐसे कार्य्य को करने से पीछे हटती

हैं अर्थात् अस्वीकार करती हैं। इसी तरह जिन पुरुषों के चित्त का स्वभाव स्त्रीस्वभावसदृश कोमल है या ममत्व-बुद्धि आदि किसी कारण से उनके चित्त में करुणरस का उदय होजाता है तो वे भी दृढ़चित्त से करने योग्य कामों से स्त्रियों की भाँति पीछे हटते हैं। अर्जुन के वीरपुरुष होने पर भी युद्धभूमि में अपने बान्धवों को उपस्थित देख कर उन लोगों में अपनी ममत्वबुद्धि होने के कारण उनके चित्त में करुणरस का उदय हुआ था इसी कारण उनको पिता का पुत्र न कहकर माता का पुत्र कहा है। "विषीद-न्निदमब्रवीत्" अर्थात् शोक करते हुए बोला, इसके द्वारा यह भाव सूचित होता है कि बोलते समय गद्गद कण्ठ हो-कर मानो अश्रुपात करते हुए कहा। "कृपयापरयाविष्टः" इस शब्द का कोई कोई "कृपया अपरया आविष्टः" अर्थात् दूसरी कृपा से आविष्ट हुआ, ऐसा भी पदच्छेद करते हैं। इस प्रकार के पदच्छेद से यह भाव सूचित होता है कि अपने पक्ष के लोगों पर अपनी ममत्वबुद्धि होने के कारण आत्मीयसम्बन्ध होने से उन पर कृपाभाव अर्जुन का प्रथम से ही था, परन्तु युद्धक्षेत्र में आकर विपक्षवालों को देखने से उनसे भी अपना ममत्वबुद्धिप्रयुक्त आत्मीय स-म्बन्ध होने के कारण उनके चित्त में "अपरा" अर्थात् दूसरी कृपा का भाव उदय हुआ था॥ २७॥

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! युयुत्सुं समुपस्थितम्।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ॥२८॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥२९॥

(**अन्वयः**) अर्जुनः उवाच । हे कृष्ण ! युयुत्सुं (योद्धुमिच्छन्तं) इमं समुपस्थितं स्वजनं दृष्ट्वा मम गात्राणि सीदन्ति (व्यथन्ते) मुखं च परिशुष्यति । (किञ्च) मे शरीरे वेपथुः (कम्पः) च रोमहर्षः (रोमाञ्चः) च जायते, हस्तात् गाण्डीवं (अर्जुनस्य स्वनामप्रसिद्धं धनुः) स्रंसते (भूमौ पतति) त्वक् च एव परिदह्यते (सन्तप्यते) ॥ २८, २९ ॥

(भाषानुवाद) अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण ! युद्ध की इच्छासे समुपस्थित इन आत्मीयों को देखकर मेरे सब अङ्ग अवसन्न होरहे हैं, मुख सूखता है, शरीर में कम्पन और रोमाञ्च होरहा है, हाथ से गाण्डीव गिरा जारहा है और शरीर की त्वचा पर सन्ताप उत्पन्न हुआ है ॥ २८, २९ ॥

(भाषाभाष्य) अब श्रीभगवान् के प्रति अर्जुन ने जो कुछ कहा है सो प्रकट किया जारहा है। आत्मज्ञान का अभाव होने से मनुष्य के चित्त में देहात्मबुद्धि होजाती है इसी कारण अपने स्थूल देह से आत्मभाव होता है और अपने देह से सम्बन्धयुक्त होने से अथवा स्नेहादि होने से परदेह में भी वही भाव उत्पन्न होजाता है इसी को अभिनिवेश कहते हैं । यह अभिनिवेश उस विवेक ज्ञान का प्रतिबन्धक स्वरूप है कि जिस विवेकज्ञान के रहने से

स्वधर्म्मपालनरूपी कर्त्तव्य की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ करती है। अर्जुन के चित्त में उसी प्रकार का अभिनिवेश हुआ, अतः क्षात्रोचित युद्धरूपी स्वधर्म्म का पालन करते समय उपस्थित वीर जो आत्मीय हैं उनके देहनाश की सम्भावना सोचकर अविवेकी की तरह गात्रदाहादि विकलतासूचक लक्षणों के द्वारा अपनी शोकार्त्त दशा को प्रकट कररहे हैं।

यह संसार द्वन्द्वमूलक है । प्राकृतिक तीनों गुणों में से परिणामगति के अनुसार दो गुणों की ही प्रधानता होती है; अर्थात् सृष्टि में या तो सात्त्विक परिणाम या तामसिक परिणाम हुआ करता है, रजोगुण केवल परिणामकारी है। सुतरां सात्त्विक परिणाम और तामसिक परिणाम के भेद से सृष्टि में दिवारात्रि, ज्ञान अज्ञान, चेतनता जड़ता, सुख दुःख आदि द्वन्द्व की स्थिति पाई जाती है। द्वन्द्व का सम्बन्ध सृष्टि के साथ इतना घनीभूत है, कि सृष्टपदार्थ के सब भेदों में इसी प्रकार की द्विविध सृष्टि भी पाई जाती है । देव और असुर के अलौकिक भेद, मनुष्यों में दैवीसम्पत्ति और आसुरीसम्पत्ति, पशुओं में छाग और मेष, गाय और भैंस, घोड़ा और गधा आदि भेद इसी द्वन्द्व के परिचायक हैं । स्थूल जगत् में इन्हीं द्वन्द्वमूलक सृष्टि के भेदों को पहचानना सहल है, परन्तु सृष्टपदार्थ जितना सूक्ष्म अर्थात् अपने कारण की ओर जाता है उतनीही द्वन्द्वमूलक विषयों को ठीक ठीक पहचानने में उत्तरोत्तर

कठिनता हुआ करती है। जरायुज योनि के जीवों में द्वन्द्व की भेदमूलक अवस्था को पहचानना जितना सहल है, अण्डजयोनियों में उसका पहचानना उससे कठिन है। अण्डजयोनियों से स्वेदजयोनियों में और स्वेदजयोनियों से उद्भिज्जयोनियों में इस भेद के पहचानने में क्रमशः कठिनता है। उद्भिज्ज में अन्नमय कोषरूपी एक ही कोष का विकास है परन्तु अन्यान्य योनियों में क्रमशः दो तीन और चार कोष का विकास होने के कारण उत्तरोत्तर कोष-विकासदशा में पहचानना क्रमशः सहल और निम्न निम्न कोष-अविकास दशा में पहचानना क्रमशः कठिन हुआ करता है। इसी प्रकार स्थूल विषय राज्य से भी सूक्ष्मवृत्ति राज्य में इस भेद का पहचानना और भी कठिन है और वृत्तिराज्य से भी भावराज्य में इस भेद का पहचानना सब से कठिन है। इसी कारण धर्म्माधर्म्मनिर्णय करने में कभी कभी ज्ञानीगण भी विमोहित हुआ करते हैं। वस्तुतः इसी द्वन्द्वविज्ञान के कारण ही काम और प्रेम, मोह और दया आदि तामसिक और सात्त्विक भेदमूलक वृत्तियां बाहर से स्वरूपतः एक ही ढंग की होने पर भी भीतर से इन में आकाश पाताल कासा भेद है। कामीपुरुष अपनी नायिका के साथ जो कामजनित चेष्टा करता है स्थूलदृष्टि से देखने पर यही प्रतीत होगा कि परम धार्म्मिकपुरुष अपनी सहधर्म्मिणी स्त्री के साथभी वैसीही चेष्टा करता है, परन्तु एकके अन्तःकरण में तमोगुणरूपी

पाप का अन्धकार और दूसरे के अन्तःकरण में सत्त्वगुण-रूपी पुण्य का प्रकाश होरहा है । उसीप्रकार मोहातुर आत्मीयजन अपने स्वजनों के दुःख को देखकर जिसप्रकार क्लेशप्रकाशक चेष्टा करेंगे, संसार भरके मनुष्यों को स्वकुटुम्ब माननेवाले जीवन्मुक्त महात्माभी उसी रीतिपर दुःखी जीवों के दुःख को देखकर करुणार्द्रहृदय हो दया प्रकाश करेंगे; बहिर्दृष्टि से मोहान्ध बद्ध जीवकी चेष्टा और मुक्तात्मा दयार्द्र महापुरुष की चेष्टा समान प्रतीत होनेपर भी उनके अन्तःकरण में रात्रि और दिन कासा भेद है। वस्तुतस्तु जिससमय मनुष्य किंकर्त्तव्य विमूढ़ होजाता है उससमय कौनसी मोहकी वृत्ति है और कौनसी दयाकी वृत्ति है इसके सिद्धान्त निश्चय करने में वह विचारवान् होनेपर भी विचलित होजाता है। इससमय अर्जुनकी वही दशा होजाने के कारण वे कर्त्तव्यकर्म्म में अकर्त्तव्य कर्म्म, मोह में दया, अहिंसा में हिंसा और धर्म्म में अधर्म्म देखने लगे थे। यही उनके क्षात्रधर्म्म और राजधर्म्म से विरुद्ध इस प्रकार के वचनों का गुप्त रहस्य है । वास्तव में इससमय अर्जुन मोहसे आतुर होगये थे और उनका शरीर और मन दोनोंही मोहसे आच्छन्न होगया था ॥ २८, २९ ॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥ ३० ॥

(अन्वयः) हे केशव ! अवस्थातुं न च शक्नोमि, मे मनः च

भ्रमतीव, विपरीतानि निमित्तानि (वामनेत्रस्फुरणादीनि) च पश्यामि ॥ ३० ॥

(भाषानुवाद) हे केशव ! (हे कृष्ण !) मुझसे और स्थिर नहीं रहाजाता है, मेरा मन मानो भ्रमयुक्त होरहा है (घूम रहाहै) और वामनेत्रस्फुरणादि विपरीत शकुनसमूह देख रहा हूं ॥ ३० ॥

(भाषाभाष्य) बन्धुविनाश के भयसे अर्जुनके चित्त में विकार उत्पन्न हुआ है उसीके कारण शरीर में भी अवसाद आगया है, अतएव कहते हैं "न च शक्नोम्यवस्थातुं" अर्थात् मुझसे और स्थिर नहीं रहाजाता, तात्पर्य्य यह है कि शोकभार से शरीर क्रमशः विवश होताजाता है, इससे अर्जुन की मूर्च्छितदशा का पूर्वलक्षण सूचित कियागया है। चित्तमें भी विकलता आगई है अतः कहा है कि "भ्रमतीव च मे मनः" अर्थात् मेरा मन मानों घूमरहा है । तात्पर्य्य यह है कि मन अत्यन्त विकल है जिससे बुद्धि कुछ निश्चय नहीं करसकी कि क्या करना चाहिये।

अचानक एक अनिष्ट की धारणा होजाने से मनकी ऐसी अवस्था होजाती है, और कुछ समय के पश्चात् मनुष्य कुछ विवेचना करने में समर्थ होता है। ऐसे अवसाद के परिणाम में मनुष्य अपने सत् और असद्भावों में से जो उससमय प्रबल होताहै उसको आश्रयकरके उसीके अनुकूल विचार करता हुआ उसीके अनुकूल युक्तियें ढूँढ़ने लगता है उस समय यदि असद्भावका आश्रय करे तो यही प्रमाद है।

अर्जुनको बुद्धिविभ्रम होगया था अतः निज क्षत्रियधर्म्मा-नुकूल व्यापार में अधर्म्मबुद्धि करतेहुए और उसीके अनु-कूल युक्तियें देना प्रारम्भ करतेहुए कहते हैं कि "निमित्ता नि च विपरीतानि पश्यामि" अर्थात् भावी अशुभसूचक वामनेत्रस्फुरणादि अपशकुनसमूह देखरहा हूँ।

अर्जुन परम आस्तिक और धर्म्मात्मा हैं अतः तमःप्रधान बुद्धिकी अवस्था में भी अन्य युक्तियों को पीछे कहकर प्रथम अशकुनरूप दैवी युक्तिको कहरहे हैं। प्रकृतिराज्य में अचा-नक कोई कार्य नहीं होता, क्रमशः होता है; परन्तु अह-ङ्काराभिभूत मनुष्य उसको कार्य्यमें परिणत होनेके समय देखता है, प्रारम्भ में देख नहीं सक्ता, अतएव अचानक होना अनुभव करता है। प्रकृति माताके अधीन होकर चलनेवाले अर्थात् धर्म्मात्मा महापुरुषगण प्रकृति जिस कार्य्यको जिस समय प्रारम्भ करती है उसी समय देखलिया करते हैं। प्रकृति की उस कार्य्यारम्भ की प्रथम चेष्टा को प्रकृति का इङ्गित अथवा शकुन कहते हैं। कोई कोई महर्षि का मत है कि कार्य्यारम्भ की प्रथम चेष्टा से लगाकर कार्य सम्पूर्ण होने के पूर्व की चेष्टाओं तक सबही चेष्टाएँ शकुन मानी जाती हैं, अर्थात् कार्य प्रारम्भ से कार्य्य समाप्ति के पूर्व क्षण तक प्रकृति माता असंख्यबार उस कार्य के प्रारम्भ होजाने की सूचना इङ्गित द्वारा डंकेकी चोटसे (स्पष्टरीत्या) बराबर दिया करती है, अज्ञानान्ध मनुष्य चाहे उसको समझे या न समझे और समझकर भी उसका प्रतीकार करे

या न करे। मनुष्येतर जीवों में अर्थात् प्रकृति राज्य (जड़ राज्य) के जीवों में प्रकृति का इङ्गित सर्वदाही स्फुरित होता है परन्तु मनुष्य में अहङ्कार के तारतम्यानुसार कम ज्यादा हुआ करता है। त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियों ने प्राकृतिक इङ्गित को जानकरके शकुनशास्त्र बनाया है, वह शास्त्र सत्य है, और इस समय अर्जुन को विरुद्ध शकुनों की प्रतीति होना भी सत्य है, क्योंकि इस समय अर्जुन की बुद्धि को विमोहित करनेवाली बहुतही अशुभ दशा का परिचायक वह अपशकुन था। अर्जुन ने वैसा न समझकर अपनी प्रमाद-युक्त बुद्धि के कारण उसको युद्ध के न करने का परिचायक समझ लिया था। वह अपशकुन अर्जुन को उसकी भावी बुद्धिनाश और धर्म्मत्याग करानेवाली पतितदशा को सूचित करता था, परन्तु अर्जुन में प्रमाद की वृद्धि होजाने से वे उसको अपने कर्त्तव्य कर्म्मरूपी युद्धकार्य्य में अशुभ की सूचना समझ रहे थे। जिस भाग्यवान् पर गुरुकी कृपा होती है और जो भक्त अपनी शुद्ध भक्ति के कारण भगवत्सान्निध्य प्राप्त करता है उसको घोरतर प्रमाद की दशा में भी भगवत्सहायता मिलती है। अतः इस समय अर्जुन को श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की सहायता मिली थी।

अवसाद के समय में तमोगुण होने पर भी दूसरेही क्षण में रजःप्रधान तमोगुण का आविर्भाव हुआ था। रजोगुण का धर्म्म है कि संदेहात्मक वृत्ति उत्पन्न करता है, अतः संदेह भाव को सूचित करने के उपक्रम में अपने तामसिक

पक्ष को प्रतिपादन करने की धर्म्मभावमूलक दैवी युक्ति देते हुए भी प्रथम "केशव" इस सम्बोधनपद को कहकर फिर उस दैवी युक्ति को कहना, अर्जुन का श्रीभगवान् में पूज्यभाव सूचित करता है। इसी भाव का प्रारम्भ यहां से होकर यह भाव श्रद्धारूप में परिणत होता हुआ अर्जुन के मुख से " शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् " इस अन्तिम वाक्य को निकलवाने का कारण हुआ है। अर्जुन को श्रीभगवान् का कुछ स्वरूपज्ञान अवश्य था अतः " केशव " शब्द का प्रयोग करते हुए भगवान् से पूछा है, नहीं तो स्वयं सर्वगुणसम्पन्न थे अपना सन्देह श्रीभगवान् से क्यों पूछते और " केशव " शब्द का प्रयोगही क्यों करते। अस्तु " केशव " शब्द का भावार्थ यह है, " केशौ वात्यनुकम्पया गच्छतीति केशवः " अर्थात् क=ब्रह्मा (सृष्टिकर्त्ता) और ईश=रुद्र (संहर्त्ता) इन स्रष्टा और संहर्त्ताओं पर जिनकी कृपा बनी रहती है वे ही केशव हैं। श्रीसच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् ने स्वयं क्लेशसम्पर्कविहीन होने से ही केशी आदि दुष्ट दैत्यों को संहार करते हुए भक्तों का पालन किया है, अतः अर्जुन अपने शोकभार को दूर करने के अभिप्राय से केशवशब्द द्वारा सम्बोधन करतेहुए श्रीभगवान् के शरणापन्न होते हैं, परन्तु रजःप्रधाना तामसिकी बुद्धि होने के कारण अपने अभिमत को प्रकाश करने से नहीं रुककर उसके समर्थन की युक्तियें आगे कहरहे हैं ॥ ३० ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

(अन्वयः) हे कृष्ण ! आहवे (रणे) स्वजनं हत्वा श्रेयः (मङ्गलं) च न अनुपश्यामि, विजयं न काङ्क्षे, राज्यं च सुखानि च न (काङ्क्षे) ॥ ३१ ॥

(भाषानुवाद) हे कृष्ण ! युद्ध में आत्मीयों को वध करके मैं कोई श्रेय (मङ्गल) नहीं देखता हूँ। मैं न विजय, न राज्य और न सुखको चाहता हूँ ॥ ३१ ॥

(भाषाभाष्य) पूर्व श्लोक में विपरीत बुद्धि से उत्पन्न प्रमादजनित शोक का परिचय देकर उसका कुछ कारणाभास भी बतलाया । अब इस श्लोक के द्वारा उस कारणाभास से किस तरह की उल्टी प्रवृत्ति होरही है वह अर्जुन प्रकट कररहे हैं । दृष्ट और अदृष्ट अर्थात् ऐहिक और पारत्रिक भेद से श्रेय दो प्रकार का है । इन उभयविध फलों के लिये अर्जुन कहते हैं कि, मैं विचारपूर्वक देखता हूँ कि इस युद्ध में स्वजनों को वध करके मुझे कोई श्रेय नहीं मिलसक्ता है । युद्ध में यदि सब आत्मीयों को वध करके विजयी होजाऊँ तो किसके साथ राजभोग करूं ? इस लिये विजय से दृष्टरूप श्रेय नहीं मिलसक्ता है और न उससे अदृष्टरूप श्रेयही मिलसक्ता है क्योंकि शास्त्रों में अदृष्टरूप श्रेय प्राप्तहोने की निम्नलिखित विधि लिखी है ।

यथा :-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राडच्योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः ॥

इस संसार में दो प्रकार के लोग सूर्य्यमण्डलभेदपूर्वक दिव्यलोक में गति प्राप्त करते हैं। प्रथम योगयुक्त (कर्म्मयोगी) परिव्राजक (संन्यासी) और द्वितीय जो सन्मुख संग्राम में प्राण त्याग करता है।

उक्तरूप से दृष्टाऽदृष्ट श्रेय की सम्भावना न होने के कारण अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण ! स्वजनों को वधकरके न तो मैं विजय चाहता हूँ और न राज्यही चाहताहूँ तथा न मुझको सुखही की चाहना है। इस प्रकार का इस इकतीसवें श्लोक का तात्पर्य है ॥ ३१ ॥

**किन्नो राज्येन गोविन्द! किं भोगैर्जीवितेन वा ।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥ ३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणाँस्त्यक्त्वा धनानि च ।
आचार्य्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥३३॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ! ॥ ३४ ॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन!॥३५॥**

(अन्वयः) हे गोविन्द ! येषां अर्थे नः (अस्माकं) राज्यं भोगाः सुखानि च काङ्क्षितं, ते एव इमे आचार्य्याः पितरः (पितृ-

सदृशाः) पुत्राः तथा च पितामहाः मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा (त्यागं स्वीकृत्य) युद्धे अवस्थिताः (अतः) नः (अस्माकं) राज्येन किं, भोगैः जीवितेन वा किं (फलमिति शेषः)। हे मधुसूदन ! घ्नतः (अस्मान्मारयतः) अपि एतान् त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि हन्तुं न इच्छामि, महीकृते (पृथिवीनिमित्तं) किं नु? हे जनार्दन! धार्त्तराष्ट्रान् निहत्य नः (अस्माकं) का प्रीतिः स्यात् ? ॥ ३२, ३३, ३४, ३५ ॥

(भाषानुवाद) हे गोविन्द ! जिन लोगों के लिये हम राज्य भोग एवं सुख चाहते हैं वेही ये आचार्य्य, पिता (पिता के समान), पुत्र, तथा पितामह; मातुल (मामा), श्वशुर, पौत्र, श्यालक (साले) और सम्बन्धि-गण प्राण एवं धनका भी त्याग स्वीकारकरके इस युद्ध में उपस्थित हुए हैं अतः हमें (ऐसी दशा में) राज्य, भोग और जीवन से क्या (प्रयोजन है) ? हे मधुसूदन! (यद्यपि) हमको वे मारें तौभी उनको इस पृथिवी के लिये क्या, त्रैलोक्य के राज्य के वास्ते भी मैं नहीं मारना चाहता हूँ। हे जनार्दन ! धार्त्तराष्ट्रों को (दुर्योधनादिकों को) विनाश करके हम लोगोंको क्या सन्तोष होगा, अर्थात् कुछभी सन्तोष नहीं होगा॥३२, ३३, ३४, ३५ ॥

(भाषाभाष्य) पूर्व श्लोक में अर्जुन ने युद्ध करनेके विषय में श्रेयःप्राप्ति की असम्भावनामूलक अनपेक्षमात्र

सूचित किया और इन श्लोकों से उसी अनपेक्षभाव को दृढ़ता के साथ प्रतिपादन कररहे हैं । श्रीभगवान् को "गोविन्द" पदके द्वारा सम्बोधन करने का तात्पर्य्य यह है कि गो=इन्द्रिय, विन्दति=पालन वा अधिष्ठान करते हैं, उन को गोविन्द कहते हैं, अतः इन्द्रियों के पालक वा अधिष्ठाता होने से आप सर्वान्तर्य्यामी हैं सो राज्यादि में मेरी आसक्ति नहीं है यह आपने जानाही होगा । इसप्रकार "गोविन्द" शब्द के द्वारा इङ्गित से अपने अनपेक्षभाव को सूचित कर उसी भावको पुनः स्पष्टरूप से प्रतिपादन करनेके अर्थही "येषामर्थे" अर्थात् जिनलोगों के लिये इत्यादि वाक्यों का प्रयोग किया गया है । राज्यादि अकेले के भोग की सामग्री नहीं है, जिन लोगों के लिये वह अपेक्षित है वेही लोग सर्वस्व त्यागकरके युद्ध के लिये आये हैं अतः इस युद्ध में न तो स्वार्थ है और न स्वात्मीयार्थ कीही सिद्धि है । किन किन लोगों से स्वात्मीयार्थ का सम्बन्ध है सो आचार्य्यादि नामों के उल्लेखद्वारा स्पष्ट करदिया है ।

यदि अर्जुन से कहाजाय कि तुम तो कृपा से अभिभूत होकर इन लोगों का वध नहीं करना चाहते हो; परन्तु येही लोग राज्य के लोभ से तुमको विनाश करेंगे, अतः इन लोगोंका वध करके तुम राज्य का भोग करो । इस लिये अर्जुन कहते हैं कि "घ्नतोऽपि एतान् महीकृते किं त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि न हन्तुं इच्छामि, धार्त्तराष्ट्रान्निहत्य का प्रीतिः स्यात्" अर्थात् मैं इन लोगों के द्वारा माराजाऊँ

सो अच्छा, परन्तु सामान्य पृथिवी की तो बातही क्या है यदि इन्हीं लोगों का विनाश करने से त्रिलोकी का राज्य भी मिलसक्ता हो तथापि मैं इन लोगों को मारना नहीं चाहताहूँ। दुर्योधनादि धार्त्तराष्ट्रगण मेरे बान्धवहैं। बान्धवों के वध से हमलोगों को कोई सन्तोष नहीं होगा क्योंकि बान्धवों के वध करने से पाप लगेगा।

"मधुसूदन" और "जनार्दन" शब्दोंसे श्रीभगवान् को सम्बोधन करने का तात्पर्य्य यह है कि आप "मधुसूदन" अर्थात् मधुनामक दैत्य को मारनेवाले और "जनार्दन" अर्थात् प्रलय करनेवाले हैं, अतः दुष्टदैत्यदलन करने पर और प्रलय में समस्त जीवों का विनाश करने पर भी आप को दोष स्पर्श नहीं करता है, इसी तरह दुष्टता के लिये इन लोगों का विनाशही यदि विहित हो तो आपही यथा-समय इनका विनाश करेंगे, ऐसा करने से कोई पाप का भागी नहीं होगा।

स्मरण रहे, यह जो पाप की सम्भावना की कल्पना है सो अर्जुन के बुद्धिविभ्रमरूप कारण सेही है। अधिकार और अधिकारी दोनों को देखकरही धर्म्म का निर्णय हुआ करता है। अर्जुन को धर्म्मज्ञान तो है, परन्तु अपने अधि-कारकी ओर न देखकर (अर्थात् अधिकारी का निर्णय न करके) अन्य अधिकारियों के अधिकारों को (अर्थात् धर्म्मों को) लेकर अपने में घटातेहुए यह सब प्रलाप कररहे हैं॥ ३२, ३३, ३४, ३५॥

पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्॥
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव!॥३६॥

(अन्वयः) आततायिनः एतान् हत्वा (तिष्ठतः) अस्मान् पापं एव आश्रयेत् तस्मात् स्वबान्धवान् धार्त्तराष्ट्रान् वयं हन्तुं न अर्हाः (समर्थाः), हे माधव! हि (यस्मात्) स्वजनं हत्वा कथं सुखिनः स्यामः (भवामः)॥ ३६॥

(भाषानुवाद) इन आततायियों को वध करने से हमलोगों को पापही लगेगा। इसलिये स्वबान्धव धार्त्तराष्ट्रों को हमलोग वध नहीं करसक्ते हैं। हे माधव! आत्मीयों का नाश करके हम कैसे सुखी होसक्ते हैं॥३६॥

(भाषाभाष्य) शास्त्रों में आततायी का लक्षण निम्न लिखित प्रकार से किया है।

यथा:—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥

अग्निद अर्थात् अग्नि लगानेवाला, गरद अर्थात् विष देनेवाला, शस्त्रपाणि अर्थात् शस्त्र हाथ में लेकर मारने को आनेवाला, धनापह अर्थात् धनहरण करनेवाला, क्षेत्रहर अर्थात् जमीन हरनेवाला और दारहर अर्थात् स्त्रीहरण करनेवाला; ये छः प्रकार के आततायी होते हैं।

कौरवों में ये छःहों लक्षण आततायी के मिलते हैं। जतुग्रहदाह से अग्निद, भीमसेन को विष देनेसे गरद, युद्धार्थ शस्त्र धारण करके उपस्थित हैं अतः शस्त्रपाणि, द्यूतक्रीड़ा में कपट से धन और भूमि हरण करने के कारण धनापह और क्षेत्रहर एवं द्रौपदी के चीरहरण और केशाकर्षणादि से दारहर हैं।

उक्त छःहोंप्रकार की तो बातही क्या है, एक प्रकार के आततायी को भी वध करनेकी शास्त्र की आज्ञा है।

यथाः—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥ ❀

आततायी को आताहुआ (देखकर) विना विचारे मार ही डाले (क्योंकि) आततायी के मारडालने से मारनेवाले को कोई भी पाप नहीं होता है।

इन वचनों के द्वारा युद्ध में कौरवों का वध अर्थशास्त्रानुसार क्षात्रधर्म्मानुमोदित होनेपर भी धर्म्मशास्त्र के निम्न लिखित वचनों के अनुसार और अर्थ शास्त्रापेक्षया धर्म्मशास्त्र को बलवान् प्रतिपादन करनेवाले निम्नलिखित

❀ पाठान्तरम्।

आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम्। जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्॥

यदि आताहुआ आततायी वेदान्त पारगामी (वेदान्तपारगमनेच्छु) भी हो तौ भी मारने की इच्छा करके आरहा है अतः उसको मारने की इच्छा करे (मारे) ऐसा करने से ब्रह्महत्याकारी नहीं होगा॥

विरोधपरिहारक वचन के अनुसार अर्जुन ने युद्ध करना अनुचित समझा होगा ऐसा अनुमान होता है ।

यथा :—

" स एव पापिष्ठतमो यः कुर्य्यात्कुलनाशनम् । "

" मा हिंस्यात्सर्व्वाभूतानि ।" इत्यादि ।

वही परम अधार्मिक है जो अपने कुल का नाश करता है । सकल प्राणिमात्र की हिंसा न करे । इत्यादि ।

शास्त्रों में विरोध परिहार के प्रकरण में निम्नलिखित प्रकार से लिखा है ।

यथा :—

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्म्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥

दो स्मृतियों का विरोध हो तो व्यवहार से देखनेपर न्यायही बलवान् होगा और अर्थशास्त्र से धर्म्मशास्त्र बलवान् होगा, ऐसी व्यवस्था कीगई है ।

उपर्युक्त धर्म्मशास्त्र के बलवान् वचनों के अनुसार कुलनाश का पाप और जीवहिंसा का पाप, उभय पाप एकसाथ होने के भयसे ही अर्जुन उक्त श्लोक कहते हैं अर्थात् आततायियों को मारने से भी पापही होगा, इस वास्ते अपने बन्धु कौरवों को हम नहीं मारसक्के, अपने बान्धवों को मारकर हम कैसे सुखी होसक्के हैं । परन्तु अर्थशास्त्र और धर्म्मशास्त्र दोनोंही शास्त्रानुशासन के अन्तर्गत हैं । अतः

शास्त्रानुशासन के वचनों के प्रयोग करने की मीमांसा इसी श्लोकके भाष्यमें आगे शङ्का उत्थापन करके की है ।

श्रीभगवान् को "माधव" शब्द के द्वारा सम्बोधन करने का तात्पर्य्य भी विचित्र है । मा = लक्ष्मी (श्री) और धव = पति, अर्थात् श्रीपति (लक्ष्मीपति) । इस पद के द्वारा श्रीभगवान् से इङ्गित द्वारा प्रार्थना कीगई है कि हे भगवन् ! आप श्रीपति (माधव) होकर मुझे बन्धुबान्धव-विहीन और श्रीहीन होने के लिये उपदेश क्यों करते हैं स्वजनों को वध करके मैं श्रीहीन होजाऊँगा अतः फिर मैं कैसे सुखी होसक्ता हूँ ।

अब यह प्रश्न होसक्ता है कि उपर्युक्त शास्त्रवचनानुसार आततायी स्वजनों की हिंसा करने में पाप होता है ऐसा कहकर अर्जुन ने युद्ध से उपेक्षा प्रकट की, परन्तु श्रीभगवान् ने आगे " प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति " अर्थात् प्रकृति तुझसे जबर्दस्ती करावेगी, यह कहकर युद्ध कराया तो उपर्युक्त सब वचनों का मर्म क्या है ?

जिस प्रकार प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने से सात्त्विक राजसिक और तामसिक रूप से तीन प्रकार के अधिकारी हुआ करते हैं, उसी प्रकार उनको शासन करने के वास्ते अधिकार भी गुणत्रय भेद से तीन हुआ करते हैं । सात्त्विक अधिकारी के वास्ते योगानुशासन, राजसिक अधिकारी के वास्ते शब्दानुशासन और तामसिक अधिकारी के वास्ते राजानुशासन है । शब्दानुशासन के दो भेद हैं, आचार्य्यो-

नुशासन और शास्त्रानुशासन । प्रकृत विषय शास्त्रानु-
शासन से सम्बन्ध रखता है और वर्णाश्रमधर्म्म का तो
मुख्य सम्बन्ध शास्त्रानुशासन से है ही । जिस प्रकार गुण
विभाग से चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई है उसी प्रकार आश्रम-
चतुष्टय से भी गुणों का सम्बन्ध है । भेद इतनाही है वर्णों
का गुण अपरिवर्त्तनीय होने के कारण आश्रमों के गुण
उसको अनुल्लङ्घन करतेहुए उसीका क्रमविकाश सम्पादन
किया करते हैं । जैसे ब्राह्मण में सत्त्वगुण बीजरूपेण होने
पर भी चारों आश्रमों के गुण उसका क्रमशः विकाश करते
हुए अन्तिम अवस्था में उसकी पूर्णता को सम्पन्न किया
करते हैं । वर्णधर्म्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रमधर्म्म निवृत्ति-
पोषक होतेहुए सामञ्जस्य प्रतिपादन करके मनुष्य को मुक्ति-
भूमि की ओर अग्रसर किया करते हैं । जिस प्रकार शूद्र
तमोगुणप्रधान, वैश्य रजस्तमःप्रधान, क्षत्रिय रजःसत्त्वप्र-
धान और ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान स्वभावतःही हुआ करते
हैं उसी प्रकार इन वर्णों के ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ
और संन्यास ये आश्रमचतुष्टय भी तत्तद्गुण विशिष्ट हैं
ऐसा जानना चाहिये । क्षत्रिय रजःसत्त्वप्रधान है अतः उस
के लिये केवल सत्त्वगुणप्रधान संन्यासाश्रम धारण शास्त्रों
में विहित नहीं है क्योंकि उसके वर्ण का गुण अपरिवर्त्तन-
शील है, उसमें वर्णगुण को विकाश करदेनाही आश्रमगुण
का कर्त्तव्य है सो वानप्रस्थाश्रम तक के आश्रमों के पालन
से होही जायगा । वैश्य के लिये वानप्रस्थ और संन्यास

दोनों आश्रम विहित नहीं हैं इसको भी उपर्युक्त रीतिसेही समझ लेना चाहिये। केवल शूद्र के विषय में कुछ सन्देह रहता है, सो शूद्रों का गृहस्थाश्रम अन्यवर्णों के गृहस्थाश्रम से नहीं मिलता, वह तमप्रधानवर्ण है अतः उसका गृहस्थाश्रम सर्वाङ्गसुन्दर नहीं होगा क्योंकि उसके वास्ते ब्रह्मचर्य्याश्रम विहित नहीं है। ब्रह्मचर्य्याश्रम ज्ञानशिक्षा प्रधान होने से अज्ञानरूप तमोगुणप्रधान शूद्र के वास्ते विहित नहीं है और विना प्रवृत्तिज्ञान प्राप्त किये गृहस्थाश्रम की पूर्णता नहीं होसक्ती। अस्तु इसी कारण से शूद्र के वास्ते उक्तप्रकारके गृहस्थाश्रममात्र की विधि शास्त्रों में है।

सारांश यह है कि शास्त्रानुशासन शब्दानुशासन का भेद होने के कारण प्रथम तो राजसिक अधिकारियों के वास्तेही वह कहा गया है और द्वितीयतः उसमें चारों वर्ण और चारों आश्रमों में से प्रत्येक को लक्ष्य करके अलग अलग वचन कहेगये हैं। अर्जुन ने उस समय प्रमाद के कारण शास्त्र के वचनों को अधिकार और अधिकारिभेद को न समझकर लगाने की भूल की है। शास्त्रानुशासन के वचनों से प्रकृत विषय को निर्णय करने की चेष्टा यद्यपि उन्होंने की है, तथापि स्वयं क्षत्रियवर्ण और गृहस्थाश्रमी हैं अतः उनको अपने वर्ण और अपने आश्रम के धर्म्मों को प्रतिपादन करनेवाले वचनों से प्रकृत विषय निर्णय करना चाहिये था, सो न करके क्षात्रधर्म्म और गृहस्थाश्रम के धर्म्म के विरुद्ध कार्य्य करने का मत स्थिर किया है। आ-

तताथिवध ही उनकी प्रकृति के अनुकूल और उनका धर्म्म था उसको उन्नत प्रकृतिविशिष्ट पुरुषों के धर्म्म को प्रतिपादन करनेवाले वचनों से खण्डन करके वे अनधिकार चर्चा के दोष के भागी हुए हैं। इसीसे श्रीभगवान्‌ने आगे उपदेश द्वारा उनको प्रकृतिस्थ किया है॥ ३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३७॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन!॥ ३८॥

(अन्वयः) यद्यपि लोभोपहतचेतसः एते कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे (मित्रजिघांसायां) च पातकं न पश्यन्ति, (तथापि) हे जनार्दन! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्त्तितुं कथं न ज्ञेयं (निवृत्तावेव बुद्धिः कर्त्तव्येत्यर्थः)॥ ३७, ३८॥

(भाषानुवाद) यद्यपि लोभाभिभूतचित्त होकर ये लोग कुलक्षय और मित्रद्रोह का पाप नहीं देख (समझ) सके हैं; परन्तु हे जनार्दन! कुलक्षय का दोष समझनेवाले हम लोग क्यों न इस पाप से निवृत्त होने की बुद्धि को स्वीकार करें॥ ३७,३८॥

(भाषाभाष्य) अर्जुन से यदि कहाजाय कि बन्धुवध से पाप लगने का भय तुमको इतना क्यों है? जिन महापुरुषों के आचरणों को देखकर अन्य व्यक्ति सदाचार

की शिक्षा ग्रहण करते हैं ऐसे परम शिष्ट भीष्मादि महोदय-गण भी तो बान्धवों के हनन करने में प्रवृत्त हुए हैं अतः शिष्टाचारानुमोदित बन्धुवध करने में पाप का भय क्यों होता है ? इसीके उत्तर में ही अर्जुन इस श्लोक में "लोभोपहतचेतसः" इस शब्द का प्रयोग कर रहे हैं अर्थात् भीष्मादि इस युद्ध में लोभाभिभूत हुए हैं इसीलिये यहां शिष्टाचरण की कल्पना निरर्थक है क्योंकि महात्माओं का निःस्वार्थ भाव अथवा धर्म्मभाव से आचरित कार्य्य कलापही शिष्टाचार में परिगणित होसक्ता है और वही अनुकरणीय होता है एवं उसीके आचरण से आचरयिता तथा अन्य लोगों का भी उपकार होसक्ता है।

शास्त्रों में क्षत्रियधर्म्म को निम्न लिखित प्रकार से प्रतिपादन किया है।

यथाः—

"आहूतो न निवर्त्तेत द्यूतादपि रणादपि।"

"विजितं क्षत्रियस्य।" इत्यादि।

द्यूत (जूआ) के वास्ते और रण (संग्राम) के वास्ते दूसरे व्यक्ति के आह्वान करने पर (बुलाने पर) लौटकर न आवे अर्थात् अवश्य जावे एवं द्यूतक्रीड़ा और संग्राम करे। जयही क्षत्रिय का (भूषण) है। इत्यादि।

इन उक्त क्षत्रियधर्म्म के वचनों के अनुसार युद्धही क्षत्रियों का धर्म्म है इसलिये अर्जुन को युद्ध करना चाहिये, परन्तु शास्त्रों में लिखा है।

यथाः—

फलतोऽपि च यत्कर्म्म नाऽनर्थैरनुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म्म इति कथ्यते॥

केवल प्रीतिकारक जो कर्म्म परिणाम में भी अनर्थ का हेतु नहीं होता है वह धर्म्म कहाजाता है।

इस शास्त्रवचन के अनुसार युद्ध करना श्रेयानुबन्धी अर्थात् श्रेयःसाधक नहीं है क्योंकि क्षत्रियधर्म्मोचित जय-प्राप्तिरूप प्रसन्नता इसमें केवल प्रारम्भ में होसक्ती है परन्तु परिणाम में बन्धुवधरूप पाप के फलरूप अनर्थ से यह युद्धरूप कर्म्म खाली नहीं है अतः यह धर्म्म नहीं होसक्ता। ऐसेही "श्येनेनाभिचारेण यजेत" अर्थात् श्येनयागरूप अभिचार प्रयोग से यज्ञ करे इत्यादि विधान के अनुसार श्येनयाग शास्त्रसम्मत है और उससे शत्रुवधरूप फलसिद्धि भी होती है, तथापि हिंसा जनित पाप के संयोग से वह श्रेयःसाधक नहीं कहा जासक्ता। प्रकृत प्रसङ्ग में क्षत्रियके वास्ते युद्ध करना शास्त्रसम्मत होने पर भी और विजय-रूप फल-सिद्धि से प्रारम्भ में प्रसन्नता होने की सम्भावना रहने पर भी परिणाम में कुलक्षयादि अनर्थ संघटित होने की सम्भावना होने के कारण तथा हिंसा बहुल होने के कारण युद्ध करना अनुचित समझ कर अर्जुन गौणतः मित्रद्रोह में और मुख्यतः कुलक्षय में पाप होना सिद्ध करते हुए कुलक्षय दोष पर ही विशेष जोर दे रहे हैं एवं इस युद्ध को श्रेयःसाधकत्व-हीन प्रमाण करने की चेष्टा कररहे हैं।

सारांश यह है कि अधिकाराधिकारिनिर्णय अतिकठिन कार्य्य है और उससे भी अधिक कठिन है अपने अधिकार का निर्णय करना। संसार में देखाजाता है कि दीपक अन्य स्थानों को प्रकाशित करने पर भी अपने नीचे के स्थान को प्रकाशित नहीं करसक्ता। इसी नियम से मनुष्य अपने अधिकार को देखकर अपना कर्त्तव्य निर्णय करने में असमर्थ हुआ करता है। यही कारण है कि विना गुरुदेव के कोई भी मनुष्य अपनी क्रमोन्नति करने में समर्थ नहीं होसक्ता और विशेष करके धर्म्मसंकट अथवा कर्मसंकट भी उसको कहसक्ते हैं वह जब आकर प्राप्त होता है, उस समय मनुष्य को किसी नेता की अवश्य ही आवश्यकता होती है। धर्म्मसंकट उसी समय होता है कि जब एक समय में जो कार्य करना है उससे हानि और लाभ उभय ही प्रतीत होनेलगे परन्तु दोनों में से कौन अधिक है यह प्रतीत न हो अथवा यों कहो कि समय एक है और कार्य दो हैं, दोनों उस समय में नहीं होसक्ते, एकही होसक्ता है तो उस समय मनुष्य बड़े संकट में पड़ता है क्योंकि उन में से कौनसा कर्म्म करे यह निर्णय नहीं करसक्ता। अपनी अवस्था के साथ कर्त्तव्य कर्म की अवस्था को मिलाकर फिर उसको करना बड़ा कठिन कार्य है। अपनी अवस्था से नीचे की अवस्था के कर्म्म को और अपनी अवस्था से नीचे की अवस्था के मनुष्य के अधिकार को मनुष्य समझ सक्ता है परन्तु अपनी अवस्था से ऊपर

की अवस्था के कर्म को और अपनी अवस्था से ऊपर की अवस्था के मनुष्य के अधिकार को मनुष्य नहीं समझ सक्ता है। बल्कि पूर्णतया तत्त्वज्ञान हुए बिना अपने नीचे के अधिकारी के अधिकार को यथार्थ रीति से पहचानना तथा उसके योग्य यथार्थ साधन का निर्णय करना भी कठिन है क्योंकि पूर्णता प्राप्तहुए विना जिस मार्ग से वह उन्नत होरहा है उसी मार्ग में जितना वह चलचुका है उतनाही वह देखसकेगा और उस मार्ग के अधिकारी को यथार्थरूप से पहचानना तो उस अवस्था में भी कठिन है। अतः शास्त्रों में जिस किसी को गुरु बनने का अधिकार नहीं दियागया है। अर्जुनने अपने अधिकार को न समझ कर और जो वचन अपने से ऊपर के अधिकार के हैं उनको अपने अनुकूल अधिकार के समझकर अपना कर्त्तव्य निर्णय करने की चेष्टा की है इसी कारण वे धर्म में अधर्म का भान देखरहे हैं।

गृहस्थ क्षत्रिय के धर्म्म को प्रतिपादन करनेवाले "आहूतो न निवर्तेत" इत्यादि वाक्यों की "फलतोऽपि च यत्कर्म्म" इत्यादि वाक्य के द्वारा उक्तरीत्या मीमांसा करना अनुचितहै क्योंकि "परिणाममें अनर्थकारक न हो" इसका तात्पर्य्य यह है कि परिणाम में कर्त्ता को कर्म्म करने के समय की अवस्था से गिरानेवाला न हो। यदि ऐसा तात्पर्य्य न मानेंगे तो संसार में कोई भी कार्य अनर्थसे खाली नहीं होसक्ता। इसी गीता में आगे कहा है।

यथाः—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवावृताः"।

सब कार्य्यही दोषयुक्त हैं जैसे अग्नि के साथ धूम रहता है।

प्रत्येक कर्म्म जिस अधिकारी के वास्ते कहागया है उस अधिकारी से उन्नत अधिकार का मनुष्य उसको करेगा तो अनर्थ का भागी होगा और इसी तरह वही कर्म्म यदि अवनत अधिकारी करेगा तो वहभी अनर्थ का भागी होगा। अतः अनर्थ जिसमें नहीं हो वही धर्म्म है। श्येनयाग हिंसा बहुल होने पर भी तामसिक अधिकारी के वास्ते वह उन्नति-कारक है अतः उसके वास्ते हिंसा बहुल और अनर्थकारक नहीं होसक्ता। उससे उन्नत अवस्था के अधिकारियों के वास्ते हिंसा बहुल और अनर्थकारक होगा इसी से उन के वास्ते वह अधर्म्म है। अर्जुन के वास्ते युद्ध करना उनके अधिकार के अनुरूप होने के कारण न परिणाम में अनर्थकारक होसक्ता है और न हिंसा बहुल होसक्ता है। परन्तु जिस समय बुद्धि तमकी ओर झुकी हुई होती है उस समय अपने लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये अपने अनुकूल वचन मनुष्य ढूँढ़कर उनसे अपने लक्ष्य की सिद्धि की चेष्टा किया करता है। तमगुण मनुष्यको अधिकार और अधि-कारि-विचार की सूक्ष्मगति को नहीं समझने देताहै इस से मनुष्य अपनी वृत्ति के अनुकूल शास्त्रवचनों को भी लगाने की चेष्टा करता है। और किस अधिकारी के वास्ते

वे वचन कहेगये हैं और मैं किस अधिकारी के वास्ते उन वचनों को कहरहाहूँ इसका भान उसको उस समय नहीं रहता है । अर्जुनकी यही दशा उस समय होरही थी इसी कारण कुलक्षय होनेको अत्यन्त प्रबलरूप से प्रतिपादन कररहे हैं ॥ ३७, ३८ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः ।
धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्म्मोऽभिभवत्युत ॥ ३९ ॥
अधर्म्माऽभिभवात्कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥ ४० ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४१ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः ४२ ॥
उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४३ ॥

(अन्वयः) कुलक्षये सनातनाः (चिरन्तनाः) कुलधर्म्माः प्रणश्यन्ति, धर्म्मे नष्टे अधर्म्मः कृत्स्नं (समस्तं) उत (अपि) कुलं अभिभवति (स्वाधीनतया व्याप्नोति) । हे कृष्ण ! अधर्म्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति, हे वार्ष्णेय ! स्त्रीषु दुष्टासु (असतीषु) वर्णसंकरः जायते । कुलस्य संकरः च कुलघ्नानां नरकाय एव (भवति), एषां (कुलघ्नानां) पितरः हि लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः) पतन्ति । कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः एतैः दोषैः शाश्वताः (चिर-

न्तनाः) जातिधर्म्माः (वर्णधर्म्माः) कुलधर्म्माः च उत्साद्यन्ते (लुप्यन्ते)। हे जनार्द्दन! उत्सन्नकुलधर्म्माणां (लुप्तकुलधर्म्माणां) मनुष्याणां नियतं नरके वासः भवति इति अनुशुश्रुम (वयं श्रुतवन्तः)॥ ३९, ४०, ४१, ४२, ४३॥

(भाषानुवाद) कुलक्षय से सनातन कुलधर्म्म नष्ट होजाते हैं और धर्म्म के नष्ट होने पर अधर्म्म सब कुल को ही अभिभूत करलेता है। हे कृष्ण! अधर्म्म के प्रबलतर होनेसे कुल की स्त्रियें दूषित होजाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दुष्ट (असती) होजाने से वर्णसंकर पैदा होने लगता है। वह कुलसंकर कुल को नाश करनेवालों को नरकमें गिराता है और उनके पितृगण भी पिण्डोदकक्रिया (पितृकर्म्म) के लोप होजाने से पतित होते हैं। वर्णसंकर को उत्पन्न करने वाले कुलनाशक व्यक्तियों के इन दोषों से सनातन जातिधर्म्म (वर्णधर्म्म) और कुलधर्म्म लुप्त होजाते हैं। हे जनार्द्दन! जिन मनुष्यों का कुलधर्म्म लोप होगया है उन मनुष्यों का चिरकाल तक नरक में वास होता है ऐसा हमने (आप्तों के द्वारा) सुना है॥ ३९, ४०, ४१, ४२, ४३॥

(भाषाभाष्य) यद्यपि अर्जुन का चित्त इस समय मोह से अभिभूत होकर तमगुण से आच्छन्न होगया था, तथापि देवांश से उनका जन्म होनेके कारण उनकी इस समय की चित्तवृत्ति विपथगामिनी होनेपर भी धर्म्मभाव को ही

लियेहुए थी। दैवी सम्पत्ति के पुरुष मोह से अभिभूत होने पर भी धर्म्म का आश्रय छोड़ना नहीं चाहते। दैवी सम्पत्ति का यही महत्त्व है।

धर्म्म दो प्रकार का है; साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म। साधारणरूप से सर्व्वसाधारण मनुष्य जाति की सत्त्वगुण-वृद्धिकारिणी जो शारीरिक और मानसिक चेष्टा है वही साधारण धर्म्म है। स्मृतियों में कहाहै।

यथाः—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम्॥

धृति, क्षमा, दम (कर्म्मेन्द्रिय निग्रह) अस्तेय (चोरी न करना) शौच (अन्तःशौच और बहिः शौच) इन्द्रिय नि-ग्रह (ज्ञानेन्द्रियों का दमन करना) धी (सात्त्विकी बुद्धि) विद्या, सत्य और अक्रोध (क्रोध न करना), ये दश धर्म्म के (साधारण) लक्षण हैं।

इस प्रकार की वृत्तियां सब प्रकार के मनुष्यों के लिये धर्मप्रदानकारिणी हैं। चाहे किसी भी अवस्था, किसी भी जाति और किसी भी धर्म्मसम्प्रदाय का मनुष्य क्यों न हो, ये सब वृत्तियां सब प्रकार के मनुष्यों के लिये धर्म्म-प्रद हैं। परन्तु विशेष धर्म्म का रहस्य कुछ और ही है। विशेष धर्म्म प्रत्येक अधिकारी के लिये स्वतन्त्र स्वतन्त्र होगा। इसी कारण स्मृतियों में कहा है।

यथाः—

यं पृथक् धर्म्मचरणाः पृथक् धर्म्मफलैषिणः ।
पृथक् धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

जिन धर्म्मरूपी भगवान् की, पृथक् पृथक् धर्म्मफल की इच्छा करनेवाले पृथक् पृथक् धर्म्माचरणशील पृथक् पृथक् धर्म्मों से सेवा करते हैं उनको नमस्कार है ।

गृहस्थाश्रम का धर्म्म संन्यास धर्म्म से विरुद्ध होगा, नारी धर्म्म पुरुषधर्म्म से पृथक् होगा, ब्राह्मणधर्म्म क्षत्रियधर्म्म से अलग होगा और आर्य्यजाति के धर्म्म के साथ अनार्य्यजाति का धर्म्म सदा पृथक् रहेगा। इसी प्रकार सब अधिकारियों में विशेष धर्म्म समझना योग्य है ।

अर्जुन के कहेहुए शास्त्रोक्त विज्ञान क्रम से तात्पर्य्य यह है कि प्रत्येक कुल की सुरक्षा, उस कुलके जातिधर्म्म और उस कुल के कुलपरम्परागत विशेष कुलधर्म्म के पालन करने से ही होती है। कुलधर्म्म जातिधर्म्म का ही विशेष अङ्ग है। जब कुल के नेताओं की अकाल मृत्यु होजाती है तो स्वतः ही चालक और रक्षकके अभाव से कुलधर्म्म नष्ट होजाते हैं ।

सनातन धर्म्म विज्ञान का अभ्रान्त सिद्धान्त यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्ण सृष्टि होती है और क्रमशः धर्म्मत्याग करने पर अपूर्णता प्राप्तहोतीहुई सृष्टि पतित होने लगती है। प्रथम सृष्टि सनकसनन्दनादि चार महापुरुषों

की हुई जो पूर्ण थी इस कारण वे पूर्ण सत्त्वमय पूर्णप्रज्ञ परमहंस हुए। दूसरी सृष्टि प्रजापतियों की (मतान्तर से ऋषियों की) हुई उनके द्वारा सृष्टि सम्बन्धीय राजसिक कार्य्य प्रारम्भ हुआ। तीसरी सृष्टिदशा में अर्थात् उनसे सब मनुष्य ब्राह्मण हुए और उन ब्राह्मणों से ही मैथुनी सृष्टि प्रारम्भ हुई। कालान्तर में सृष्टि की जो चतुर्थ अवस्था हुई तो, सत्ययुग की उस प्रथम दशा में ब्राह्मणगण कर्म्म-संकर होकर बिगड़ने लगे। तब श्रीभगवान् ब्रह्माजी के पुत्र मनुजी का आविर्भाव हुआ और उन्होंने वर्ण और आश्रम मर्य्यादा को स्थापित करके इन आठ प्रकार के बान्ध द्वारा नीचे गिरतेहुए इस प्रवाह को रोक दिया। महाभारत में लिखा है।

यथाः—

असृजद्ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान्भास्कराऽग्निसमप्रभान्॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णतां गतम्॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्म्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्म्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः॥
हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्म्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥

आदिकाल में ब्रह्मा ने प्रथम ब्राह्मण प्रजापतियों को उत्पन्न किया, वे ब्रह्मा के समान तेजस्वी और सूर्य एवं अग्नि के समान प्रभावान् थे। उन प्रजापतियों की उत्पन्न की हुई सृष्टिमें कोई वर्ण विशेष न था। यह जगत् ब्रह्मासे उत्पन्न हुआ था अतः ब्राह्मही कहाजाता था। परन्तु पीछे कर्म्म विभिन्नतासे गिरकर संस्कार भ्रष्ट होनेसे चातुर्वर्ण्यको प्राप्त हुआ था। जो ब्राह्मण कामभोगप्रिय, तीक्ष्णप्रकृति, क्रोधी, साहसप्रिय, लालवर्णवाले और अपने ब्राह्मण धर्म्म के परित्याग करनेवाले थे वे क्षत्रियहुए। जो ब्राह्मण गौओं को रक्षा करतेहुए अपनी वृत्ति-निर्व्वाह करनेवाले, पीतवर्ण वाले, कृषिके द्वारा उपजीविका करनेवाले और स्वधर्म्मानुष्ठान नहीं करनेवाले थे वे वैश्यहुए। जो ब्राह्मण हिंसाप्रिय, असत्यप्रिय, लोभी, सब प्रकारके कर्मों से उपजीविका करनेवाले, शौचाचारपरिभ्रष्ट और कृष्णवर्ण थे वे शूद्रहुए।

इसी समय जो आठ मर्य्यादारूपी बान्ध बांधेगयेथे उन्हीं बान्धों ने और विशेषतः वर्णधर्म्म के चार बान्धों ने आर्यजाति को विलुप्त होने से रोकरक्खा है। नहीं तो आर्य्यजाति क्रमशः अनार्य्य म्लेच्छ और यवन होती हुई अन्यान्य मनुष्य जातियों की नाईं कालसागर में डूब जाती। इसी कारण अर्जुन ने सनातन शब्द व्यवहृत किया है। यही आदि काल से उत्पन्न हुआ सनातन जातिधर्म्म और क्रमशः संगठित कुलधर्म्म जाति और कुल के नेताओं के नष्ट होने से अवश्य ही नष्ट होजाता है। सुतरां कुल के

नेताओं की अकालमृत्यु से ईश्वराज्ञाभंग और अधर्म्म होता है इसमें सन्देह नहीं।

विना अनुशासन के धर्म्म की रक्षा नहीं होसक्ती इस कारण किसी जाति अथवा कुल के अनुशासक नेतृवृन्द अकालमृत्यु से नष्ट होजाते हैं तो अपने आपही उस जाति अथवा कुल में अधर्म्म का प्रभाव पड़जाता है। क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक गति निम्नगामिनी होने के कारण अधर्म्म की ओर हुआ करती है। जैसा कि सृष्टिप्रकरण में ऊपर कहचुके हैं कि ब्राह्मण गण जब क्रमशः गिरनेलगे तब वर्णाश्रमरूपी बान्ध बांधा गया।

किसी जाति अथवा कुलधर्म्म के बीज की रक्षा स्त्रियों से ही होती है क्योंकि स्त्रियां क्षेत्ररूपा हैं। जाति और कुलके अधर्म्म से अभिभूत होजाने पर कुलस्त्रियों का पवित्र हृदय अधर्म्म से कलुषित होने लगता है। अनादि-सिद्ध सनातन और पवित्र जातिधर्म्म और कुलधर्म्म की सुरक्षा करने में नारियों का जगत्पवित्रकारी एकमात्र सतीत्वधर्म्म ही प्रधान अवलम्बन है। अपिच उक्त प्रकार अधर्म्माभिभूत होने से परमपवित्र सतीत्वधर्म्म संस्कार से स्त्रियां च्युत होनेलगती हैं। और स्त्रियों के सतीत्वधर्म्म से च्युत होजाने पर वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होने से, सनातन से परम्परागत पवित्र बीज परिवर्त्तित होजाता है। आधिभौतिक जगत् में जितने प्रकार के घोर पाप होसक्ते हैं, एक पवित्र जाति अथवा कुल के सनातनसे परम्परा प्राप्त पवित्र बीज

को परिवर्त्तित करदेने से जो पाप होता है वह सबसे अधिक है। इसीकारण पूज्यपाद महर्षियों ने क्षेत्ररूपिणी नारियों को तपधर्म्म द्वारा भलीप्रकार सुरक्षित किया है। सुतरां इस प्रकार वर्णसंकरकारक स्वकुलक्षयकर्त्ता नरक का अधिकारी होगा इस में सन्देह ही क्या है। अधिकन्तु उस कुल के पितृगण भी लुप्त पिण्डोदक होकर अवश्य पतित होंगे।

कर्म्म का बीज संस्कारहै। जिस प्रकार संस्कार अन्तःकरणमें अङ्कित होताहै उसी प्रकार उस कर्म्मकर्त्ता को फल की प्राप्ति होती है। शास्त्रोक्त विवाह संस्कारसे संस्कृत स्त्री का उपभोग करने से धर्म्मकी प्राप्ति होती है और उसके सङ्गम से जो सन्तति की उत्पत्ति होती है वह धर्म्मानुकूल होनेके कारण परलोक में उस पुरुष के पितृगण की भी पिण्डोदकादि दान द्वारा सहायक होसक्ती है। परन्तु शास्त्रोक्त संस्कारहीन स्त्री के साथ सङ्ग करने से अधर्म्म की प्राप्ति होती है और उस सङ्गम से जो सन्तति उत्पन्न होती है वह अधर्म्मजनित होने के कारण पिण्डोदकादि दान में अनधिकारिणी होने से पितृगणके पतनका कारण होती है।

संस्कार के साथ क्रिया का बीज और वृक्ष के सदृश सम्बन्ध है। जिस प्रकार जैसा बीज पृथिवी में बोया जायगा वैसे ही वृक्षकी उत्पत्ति होगी, उसी प्रकार गर्भाधान के समय माता पिता का अन्तःकरण जिस प्रधान संस्कार से आबद्ध रहेगा सन्तति का अन्तःकरण भी उसी के सदृश

होगा इस में सन्देह नहीं। आर्य्य शास्त्रों में मन और वीर्य को कार्य्य कारणरूप से एकही कहा है। गर्भाधान के समय सारा शरीर निचुड़कर सारभूत वीर्य्य मन के साक्षात् सम्बन्ध से निःसरण हो गर्भाशय में प्रवेश करता है। सुतरां अधर्म्म संस्कार से उत्पन्न संकर सन्तति के द्वारा पारलौकिक धर्म्म कार्य्य होना असम्भव है। मन्त्र और मन की सहायता से पिण्डोदकादि पितृलोक में पहुंचते हैं उस पारलौकिक सहायता के पहुंचने की शैली यह है कि श्राद्ध-कर्त्ता द्वारा किया हुआ श्राद्धकृत्य उसके अन्तःकरण में प्रथम संस्काररूप को धारण करके सर्वव्यापक समष्टिरूपी विराट् अन्तःकरण की सहायता से पितृलोक में पहुंचकर श्राद्धकर्त्ता के पितरों के व्यष्टि अन्तःकरण में पुनः कारण-भाव से कार्यभाव को धारण करता है। अपिच दोनों केन्द्रों में समानता न रहकर विरुद्ध संस्कार रहने से वह क्रिया पहुंच नहीं सक्ती। दूसरी ओर पितरों में स्वाभाविक वासना (पिण्डोदकादि प्राप्ति की इच्छा) की तृप्ति न होने से उनका अधःपतन होना अवश्यम्भावी है। वस्तुतस्तु किसी कुल में जब वर्णसंकर सृष्टि उत्पन्न होजाती है तो वह कुल और उसकी जाति दोनों नष्ट होजाती है। और जिन मनुष्यों का वह कुल है वे पूर्वकथित कारणों से चिरकाल पर्य्यन्त नरक में वास करते हैं॥ ३९,४०,४१,४२,४३॥

अहो बत! महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४४॥

(अन्वयः) यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः वयं महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिताः (उद्युक्ताः), अहोबत ! (महत्कष्टं) ॥४४॥

(भाषानुवाद) अहो ! हम कैसे महापाप के लिये अध्यवसाय करते हैं; क्योंकि सामान्य राज्यसुख के लोभ से महान् अनर्थजनक स्वजन हत्यारूप कार्य्य में उद्यत हुए हैं ॥ ४४ ॥

(भाषाभाष्य) अर्जुन का पूर्वकथित धर्म्मविज्ञान और यह करुणावृत्ति प्रकाशक वचन धर्म्मशास्त्रानुकूल है इस में सन्देह नहीं। परन्तु अर्जुन इससमय मोहाक्रान्त हुए हैं इस कारण यह विचार देश काल और पात्रानुकूल न होने से उनके प्रमाद का परिचायक है ॥ ४४ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४५ ॥

(अन्वयः) यदि अप्रतीकारं (प्राणरक्षार्थै प्रतीकाररहितं) अशस्त्रं मां शस्त्रपाणयः (शस्त्रहस्ताः) धार्तराष्ट्राः रणे (युद्धे) हन्युः (हतं करिष्यन्ति) तत् मे (मम) क्षेमतरं (अत्यन्तं हितं) भवेत् ॥ ४५ ॥

(भाषानुवाद) यदि मैं प्रतीकारोद्यमरहित और अशस्त्रपाणि रहूँ एवं शस्त्रधारी धार्त्तराष्ट्र गण इस युद्ध में मुझे संहार करें तो वह मेरे लिये अधिक मङ्गल कर होगा ॥ ४५ ॥

(भाषाभाष्य) इस वचन से अर्जुन के प्रमाद की

पूर्णता प्रकाशित होती है । तमोगुण और सत्त्वगुण, इन दोनों की विशेष विशेष वृत्तियां इस प्रकार परस्पर में मिलती जुलती पाई जाती हैं कि समय समय पर योग्य व्यक्ति भी घोर तमोगुण की वृत्तियों को सात्त्विक वृत्ति करके समझने लगता है । मोह के अश्रु और करुणा के अश्रु, कभी कभी इन दोनों के पहचानने में योग्य व्यक्तिगण भी भ्रममें पतित होते हैं । अर्जुन भी इस समय मोहान्ध होकर अपने आपको भ्रमसे करुणार्द्र समझ रहे हैं । अर्जुन के अन्तः-करण का प्रमाद कैसा अधिक बढ़गया है सो इस वचन से प्रमाणित होरहा है । क्योंकि वे इस समय पूर्णरीत्या भूलगये हैं कि किस क्षत्रिय जाति में उनका जन्म है और उनका जातिधर्म्म और कुलधर्म्म वास्तव में क्या है ॥ ४५ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां युद्धपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(अन्वयः) सञ्जयः उवाच । अर्जुनः एवं उक्त्वा संख्ये (युद्धे) सशरं (सबाणं) चापं (गाण्डीवं) विसृज्य (परित्यज्य) शोकसंविग्नमानसः (शोकसंपीडितमनाः सन्) रथोपस्थे (रथस्य उपरि) उपाविशत् (उपविष्टवान्) ॥ ४६ ॥

(भाषानुवाद) सञ्जय ने कहा । अर्जुन ऐसा कहकर शर के सहित धनु को परित्यागकर शोकयुक्त मन से युद्धस्थल में रथपर बैठगये ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीभगवान् वेदव्यास कथित लक्ष श्लोकात्मक महाभारतसंहिता के युद्धपर्वान्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रप्रतिपादक कृष्णाऽर्जुन संवादात्मक श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्का अर्जुन विषादयोगनामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

(भाषाभाष्य) जब तमोगुण बहुत अधिक बढ़जाता है तभी तन्द्रा, विह्वलता, निश्चेष्टता और जडता आदि आजाती है । अर्जुन में प्रमाद की बहुत अधिकता आगई थी और अर्जुन निश्चेष्ट जडवत् होगये थे सो सञ्जय अपने वचनों से प्रकाशित कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमत् शिवाचार्य्य विरचित श्रीगीतोपनिषत् के प्रथम अध्याय के भाष्य का भाषानुवाद समाप्त हुआ ॥ १ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

सञ्जय उवाच ।

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

(अन्वयः) सञ्जयः उवाच । मधुसूदनः तथा कृपया आविष्टं (अधिष्ठितं) अश्रुपूर्णाऽऽकुलेक्षणं विषीदन्तं (विषादं प्राप्तं) तं (अर्जुनं) इदं वाक्यं उवाच ॥ १ ॥

(भाषानुवाद) सञ्जय ने कहा, (श्रीभगवान्) मधुसूदन उस प्रकार दयार्द्रचित्त, अश्रुपूर्ण और घबराये हुए नेत्रवाले एवं विषण्णभावापन्न उस (अर्जुन) से यह (निम्नलिखित) वाक्य बोले ॥ १ ॥

(भाषाभाष्य) श्रीगीताजी समाधिभाषा है । अन्तःकरण की जिस दशा से समाधिभाषा का प्रकाश होता है, महर्षियों के योगयुक्त अन्तःकरण की उसी दशा में ही वेद का आविर्भाव हुआ करता है । इसी कारण वेद और समाधिभाषा दोनोंकी समानता तत्त्वज्ञानी महात्मा मानते हैं । श्रीगीताजी के अट्ठारह अध्यायों में से प्रथम छः अध्याय " तत्त्वमसि " महावाक्य के तत्पद प्रतिपादक, आधिभौतिक शुद्धि करनेवाले और कर्म्म-मीमांसा-वि-

ज्ञान के रहस्य के प्रकाशक हैं। कर्म्मकाण्ड में जैसे प्रथम यज्ञ के अर्थ पदार्थों की योजना कीजाती है और पदार्थों को यथावत् सजाकर यज्ञ का प्रारम्भ किया जाता है उसी प्रकार से श्रीगीताजी के प्रथम अध्याय में गीता-आविर्भाव की हेतुरूप भूमिका के प्रकाशित करने के अभिप्राय से युद्धभूमि का दृश्य और प्रतिद्वन्द्वी योद्धाओं की स्थिति-प्रदर्शनकारी गाथा का वर्णन करके अब विज्ञान का प्रारम्भ इस द्वितीय अध्याय में किया जाता है। कर्म्ममीमांसा, उपासनामीमांसा और ज्ञानमीमांसा, तीनोंका अन्तिम लक्ष्य एक ही है। कर्म्ममीमांसा "तत्पद" की व्याख्या से ही ब्रह्म का निरूपण करता है और जगत् ही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करता है। उपासनामीमांसा "तत्त्वं" पद से ही ब्रह्म का निरूपण करता है और ब्रह्मही जगत् है ऐसा निश्चय करता है और ज्ञानमीमांसादर्शन "तत्त्वमसि" पद की व्याख्या से ब्रह्म का निरूपण करता है और मैं ही ब्रह्म हूँ ऐसा निश्चय करताहै। श्रीगीताजी के अट्ठारह अध्यायों में ऐसा ही यथाक्रम लक्ष्य रक्खा गया है। उसीमें से प्रथम पद के लक्ष्यभूत ये छःओं अध्याय हैं ऐसा लक्ष्य यथावत् रखने से गीताविज्ञान समझ में ठीक आवेगा।

अर्जुन इस समय युद्ध की इच्छा से विमुख होरहे हैं और उनकी वृत्ति क्षत्रियधर्म्म के अनुकूल न होकर अहिंसा और दया-प्रधान ब्राह्मणधर्म के समान हो रही है। प्रमाद से वे अपने धर्म्म भूल गये हैं। ये सब समा-

चार सुनकर धृतराष्ट्र को कहीं ऐसी न आशा होजाय कि अर्जुन तो अब युद्ध करेंहीगे नहीं, इस कारण उनकी आकाशकुसुमरूप आशा का नाश करने के अर्थ सञ्जय ने "मधुसूदन" शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द द्वारा सञ्जय ने धृतराष्ट्र को यह सङ्केत किया है कि मधुनामक दैत्यहन्ता भगवान् बराबर दुष्टदल का दमन करते हैं। अर्जुन के युद्ध में पराङ्मुख होने से क्या होगा। जो दैत्यदल के दलन करने के अर्थ स्वयं बीच बीच में अवतार लेते हैं वे रणभूमि के अधिष्ठाता हुए हैं। भूभारहारी भगवान्, तुम्हारे दुर्योधनादि दुर्वृत्त पुत्रवृन्द क्षय प्राप्त हों इस विषय में, अर्जुन को केवल निमित्तमात्र करेंगे। तुम पुत्रों की वृथा जयाशा मत करो॥

और भी गभीर दृष्टि से मधुसूदन शब्द के प्रयोग को देखने से पुलकित होना पड़ता है। सृष्टि के प्रारम्भ में शेषशय्याशायी भगवान् विष्णु जब योगनिद्रा में निद्रित थे और अघटनघटनापटीयसी तमोमयी भगवती महामाया ने निद्रारूप से उनको आच्छन्न कर रक्खा था, ऐसे घोर प्रमाद के समय में विष्णु भगवान् के शरीर से ही जो अतिप्रबल मधुनामक दैत्य उत्पन्न होकर भगवान् ब्रह्मा का नाश करने को उद्यत हुआ था, ऐसे घोर तमोमय प्रबल मधु दैत्य को मारनेवाले श्रीमधुसूदन जब पाण्डवों के रक्षक हैं तो अर्जुन का प्रमाद कदापि नहीं रहसकेगा। यह भी मधुसूदन पद का तात्पर्य्य है।

अर्जुन को उस समय इतना मोह होगया था कि कृपा, शोक और विषाद ये तीनों ही उत्पन्न होकर ऐसी अधीरता प्राप्त हुई कि वीराग्रगण्य होने पर भी युद्ध के समय अश्रुपात का उपक्रम हुआ था। इसी लिये "अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्" इस पद द्वारा सञ्जय अर्जुन की उस समय की अवस्था वर्णन कररहे हैं। तमोगुण उदय होने पर जो अत्यन्त किंकर्त्तव्यविमूढता होती है उसमें क्रमशः शोक विषाद और अश्रुपूर्णता हुआ करती है। शोक की दूसरी अवस्था में विषाद और अन्तिम अवस्था में अश्रुपूर्णता होती है। अर्जुन के वीरपुङ्गव होने से अश्रुपात होने नहीं पाया था अतः नेत्र अश्रु से पूर्ण और घबराये हुए थे अर्थात् साधारण व्यक्ति की तरह अश्रुपात होना प्रारम्भ नहीं हुआ था, वीर होने से धैर्य्य के कुछ अवशेष होने के कारण उस समय उनके नेत्र केवल सजल और व्याकुल हुए थे।

"कृपया आविष्ट" इस पद के द्वारा कृपा का आगन्तुकत्व प्रसिद्ध किया है अर्थात् अर्जुन में स्वभावगत यह वृत्ति नहीं है, इससमय में ही तमोगुण के उदय से सम्भूत मोह से ऐसी वृत्ति उत्पन्न होगई है क्योंकि यह क्षत्रियोचित वृत्ति नहीं है, यह ब्राह्मणोचित वृत्ति है। इससे यह तात्पर्य्य नहीं है कि अर्जुन कृपालु नहीं थे, परन्तु यह तात्पर्य्य है कि ऐसे युद्ध के समय में कृपा की वृत्ति उदय होना उनमें स्वाभाविक नहीं था। पापी और न्यायत्यागी

को कृपारहित होते हुए दण्ड देना क्षत्रियों का परम धर्म्म है वह अर्जुन में विद्यमान था, उसके स्थान में असमय में और अपात्रों पर यह वृत्ति उत्पन्न होने से ये आगन्तुक थी अत एव "तथा" पद के द्वारा असमय में उत्पन्न हुई कृपा का साधारण कृपा से विशेषत्व बताया गया है जिसका विस्तृत वर्णन पूर्व अध्याय में होचुका है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥ २ ॥

(अन्वयः) श्रीभगवान् उवाच । (हे) अर्जुन ! विषमे (सङ्कटे) कुतः (कस्मात्) इदं अनार्य्यजुष्टं (आर्य्यैरसेवितं) अस्वर्ग्यं (स्वर्गानर्हं, प्रत्यवायकारणं) अकीर्तिकरं (अयशस्करं) कश्मलं (मोहं) त्वा (त्वां) समुपस्थितं (प्राप्तं) ॥२॥

(भाषानुवाद) श्रीभगवान् बोले, (हे) अर्जुन ! इस सङ्कट के समय में क्यों तुमको इस प्रकार मोह उत्पन्न हुआ है ? यह अनार्य्यजनोचित, स्वर्ग की इच्छा करनेवाले का असेव्य और अकीर्ति करनेवाला है ॥ २ ॥

(भाषाभाष्य) "श्रीभगवानुवाच" इस वाक्य में भगवच्छब्द के प्रयोग का तात्पर्य्य विचित्र है। शास्त्रों में भगवच्छब्द का लक्षण आगे लिखी हुई गीति से किया है।

यथाः—

ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य धर्म्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याऽथ मोक्षस्य षएणां भग इतीङ्गना ॥

समग्र ऐश्वर्य्य, धर्म्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञान ये छः भगपदवाच्य हैं ।

पूर्ण परिमाण से जिनमें ये छःओं सदा विद्यमान रहते हैं वेही भगवान् हैं ।

दूसरा मत यह हैः—

उत्पत्तिञ्च विनाशञ्च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥

जो सकल प्राणिमात्र की उत्पत्ति और विनाश का मूल कारण विदित हों, जो सकल प्राणिमात्र की आगति और गतिरूप अर्थात् आने जानेवाली सम्पद् और विपद् के सूक्ष्म तत्त्व को जानते हों एवं जो विद्या और अविद्या को जानते हों वे ही सर्व्वज्ञ पुरुष "भगवान्" पदवाच्य हैं ।

मन्त्रणा के दोष से, शक्ति के अभाव से, अनभिज्ञता से और चातुर्य की त्रुटि होने से अर्थात् इन किसी प्रकार से भी पाण्डव-पक्ष संग्राम में पश्चात्पद नहीं होगा यह धृतराष्ट्र को विदित करने के लिये सञ्जय ने " भगवान् " पद का व्यवहार किया है ।

जिसका जो कर्त्तव्य और प्रकृति-सिद्ध है उसकी उस से विरुद्ध वृत्ति हो तो वह मोहजनित है । इसी कारण श्रीभगवान् क्षत्रिय-प्रकृति-विरुद्ध सात्त्विक ब्राह्मण-प्रकृति

के लक्षण अर्जुन में देखकर कहते हैं, हे अर्जुन ! तुम्हारी यह स्वधर्मविरुद्ध बुद्धि क्यों इस सङ्कट के समय में उदय हुई है ? यह तुम्हारा मोह शिष्टानुमोदित न होने से मलिन है। तुम क्षात्रियप्रवर हो तुमको इस प्रकार का मोह इस भयानक अवसर में क्यों प्राप्त हुआ है ?

श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं, उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर में यदि तुम कहो कि मैं मोक्ष, स्वर्ग अथवा यश के अर्थ युद्ध त्याग करना चाहता हूँ तो यह तीनों ही सम्भव नहीं हैं।

यदि तुम मोक्षेच्छा से ऐसा करना चाहते हो तो यह तुम्हारा कार्य अनार्य्यजुष्ट है। आर्य्यों के द्वारा अनुष्ठित नहीं है अतः मोक्ष नहीं होसक्ता। आर्य्यों का लक्षण शास्त्रों में कहा है कि वर्णाश्रमधर्म्म का पूर्णरीत्या जो पालन करे उसको आर्य्यजाति कहते हैं। इसी लक्षण को विस्तृत रूप से कहने से कहसक्के हैं कि जिस जाति की प्रत्येक चेष्टा में आध्यात्मिक लक्ष्य हो, जिस जाति में सतीत्वधर्म्म का पालन होता हो, जिस जाति में सदाचार को मुख्य मानागया हो, जो जाति वर्णाश्रमधर्म्म की पक्षपातिनी हो और जो जाति जन्म, कर्म्म और ज्ञान इन तीनोंके सम्बन्ध से वर्णाश्रमधर्म्म पर चलनेवाली हो उसी जाति को आर्य्यजाति कहते हैं।

परम पूज्यपाद महर्षि भरद्वाजकृत कर्म्ममीमांसादर्शन में आर्य्यजाति और अनार्य्यजाति का लक्षण आगे लिखे प्रकार से किया है।

यथाः—

उभयोपेताऽऽर्य्यजातिः ।

तद्विपरीताऽनार्य्या ।

जिस जाति में गुणविकाश और भावविकाश दोनों का नियमित और नित्य सम्बन्ध रहे उसीको आर्य्यजाति कहते हैं और जिस जाति में उनका नियमित और नित्य सम्बन्ध न रहे उसको अनार्य्यजाति कहते हैं।

कलाविकाश से मुक्ति होती है। इस मीमांसादर्शन का यह सिद्धान्त है कि संस्कार के द्वारा क्रमशः ज्ञान की षोडश कला का विकाश जब साधक में होजाता है तब वह साधक मुक्तिपदवी को पहुँच जाता है। इन्हीं षोडश कला का विकाश नियमित रूप से यथाक्रम मनुष्य में तब ही होसक्ता है जब वह मनुष्यजाति वर्णाश्रम धर्म्म से युक्त हो। अन्य जाति अर्थात् अनार्य्यजाति में ज्ञान-विकाश का वह यथावत् क्रम कदापि नहीं रहसक्ता। वर्णा-श्रमधर्म्मयुक्त आर्य्यजाति में वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म्म की सहायता से ज्ञानकला का यथाक्रम नियमित विकाश होसक्ता है। जो मनुष्यजाति वर्णाश्रमधर्म्म के अनुसार नहीं चलती उस मनुष्यजाति में ज्ञान के विकाश का अवसर रहने पर भी वह विकाश यथाक्रम नहीं होसक्ता। इस विज्ञान को समझने के लिये यह कहा जासक्ता है कि वर्णाश्रमधर्म्म माननेवाली आर्य्यजाति का साधक यदि वर्णाश्रमधर्म्म पर चलता रहे तो वह अपने शास्त्रोक्त

संस्कार और जन्मान्तर के द्वारा अपने में ज्ञानकला का नियमित विकाश करसकेगा। उदाहरणरूप से कहसक्के हैं कि उसमें एक कला के अनन्तर दूसरी, तीसरी, चौथी अर्थात् षोडश कला तक ज्ञानकलाओं का विकाश यथाक्रम नियमित होगा। परन्तु अनार्य्यजाति में ज्ञानविकाश का अवसर रहने पर भी वह अनियमित होसक्का है अर्थात् दश कलाके अधिकार के बाद पुनः पांच कला का अधिकार प्राप्त होसक्का है। सिद्धान्त यह है कि वर्णाश्रम धर्म्म से मनुष्य बेरोक आगे बढ़सक्का है और वर्णाश्रम न माननेवाली जाति गिरसक्की है। इस विज्ञानकी दृढ़ता के लिये जगत् के इतिहास में प्रत्यक्ष प्रमाण भी बहुत हैं; हिन्दूजाति के अतिरिक्त जगत् की अगणित प्रभावशाली अन्य जातियाँ जिनमें वर्णाश्रम धर्म्म नहीं था वे सब कालग्रास में पतित होचुकी हैं। परन्तु वर्णाश्रम माननेवाली आर्य्यजाति अनादि काल से अभीतक जीवित है। ज्ञानकला का विकाश गुणविकाश और भावविकाश की सहायता से हुआ करता है। गुणविकाश से तात्पर्य्य सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से है, उनमें से सत्त्वगुण का क्रमविकाश ही मनुष्य की क्रमोन्नति के साथ मानागया है। भावविकाश से अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत इन त्रिविध भावों से तात्पर्य्य है। इन्हीं तीनों भावों के क्रमविकाश द्वारा मनुष्य में त्रिविध शुद्धि हुआ करती है। अतः सूत्रकार का यह तात्पर्य्य है कि जिस

मनुष्यजाति में गुणविकाश और भावविकाश का निरन्तर और नियमित सम्बन्ध रहे उसीको आर्य्यजाति कहते हैं। इसी दर्शनशास्त्र में पुनः कहागया है।

यथा :—

प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्म्मः।
निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः ।

मनुष्यों में जो स्वाभाविक इन्द्रिय-भोगप्रवृत्ति की नीच वासना रहती है, वर्णधर्म्म से उसका क्रमशः अवरोध होता है और आश्रमधर्म्म द्वारा मनुष्य क्रमशः निवृत्ति मार्ग को अवलम्बन करताहुआ मुक्तिपद की ओर अग्रसर होता है। वर्णाश्रमधर्म्म के जितने आचार शास्त्रों में वर्णित हैं और वर्णाश्रमधर्म्म का जो कुछ लक्ष्य वेदविज्ञानसे निर्णीत कियागया है वह सब इसी वैज्ञानिक रहस्य से पूर्ण है। सुतरां श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आज्ञा करते हैं कि आर्य्य-गण का लक्ष्य जब वर्णाश्रमोक्त स्वधर्म्म पालन करने पर ही है और आर्य्यगण जब निवृत्ति और मुक्तिको ही सबसे अधिक समझते हैं तो इस समय तुम्हारा यह स्वधर्म्म-विरुद्ध प्रमादयुक्त विचार अनार्य्यजुष्ट है, अतः मुक्ति का बाधक है।

श्रीभगवान् का यह प्रथम वचन अतिगूढ़ विज्ञान से पूर्ण है। वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने कहा है।

यथा :—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसः सिद्धिः स धर्म्मः।

जिस कार्य्य के द्वारा इहलौकिक अभ्युदय, पारलौकिक

अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति हो उसको धर्म्म कहते हैं। धर्म्म का यह असाधारण विज्ञान है। इसी वेद-सम्मत असाधारण धर्म्म-विज्ञान के अनुसार श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का यह वचन श्रीमुख से निकला है। अस्तु श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं कि यदि धर्म्म के ये तीनों लक्षण माने जायँ तो तुम्हारा यह प्रमादयुक्त विचार ऊपर लिखित कारणों से मुक्तिप्राप्ति के उपयोगी तो है ही नहीं, किन्तु पारलौकिक अभ्युदयरूपी स्वर्ग और इहलौकिक अभ्युदयरूपी कीर्ति का भी बाधक है। जब स्पष्टरूप से वेद और धर्म्मशास्त्र यह कहते हैं कि धर्म्मयुद्ध से कदापि क्षत्रिय को मुख नहीं फेरना चाहिये और धर्म्मयुद्ध में प्राणत्याग करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है तो तुम्हारा यह प्रमादयुक्त सिद्धान्त अस्वर्ग्य है और कीर्तिनाशकारी तो स्पष्टही है क्योंकि स्वधर्म्मत्याग और प्रतिज्ञा-भङ्ग आदि के द्वारा विमल कीर्ति का नाश स्वतः होजायगा। अतः हे अर्जुन ! तुम्हारा यह प्रमादयुक्त विचार धर्म्म के तीनों लक्षणों से विरुद्ध है॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप !॥३॥

(अन्वयः) (हे) पार्थ! क्लैब्यं (अधैर्य्यं) मा स्म गमः (न प्राप्नुहि) एतत् (अधैर्य्यं) त्वयि न उपपद्यते (न युक्तं भवति) (हे) परन्तप! (शत्रुतापन!) क्षुद्रं (तुच्छं) हृदयदौर्बल्यं (मानसं अधैर्य्यं) त्यक्त्वा उत्तिष्ठ (युद्धाय उपक्रमं कुरु)॥ ३॥

(भाषानुवाद) हे पार्थ ! तुम क्लीवता अवलम्बन मत करो, यह तुम्हारे उपयुक्त नहीं है। हे परन्तप ! नीचतायुक्त हृदयदौर्बल्य छोड़कर (युद्धार्थ) उठो॥३॥

(भाषाभाष्य) श्रीभगवान् कहते हैं कि यदि ऐसा कहो कि बन्धुओं की सेना को देखकर धैर्य्यरहित होतेहुए मैं धनुष धारण करने में भी असमर्थ हूँ तो इस क्लैब्यभाव को, जो ओज, तेज और कर्त्तव्यज्ञान का भंग करनेवाला है, मत प्राप्त होओ क्योंकि तुम पार्थ हो अर्थात् पृथा के पुत्र हो। पार्थ इस सम्बोधन से तात्पर्य्य यह है कि पाण्डुमहिषी पृथा ने देवप्रसाद से तुमको उत्पन्न किया है, वह मातामात्र है, तुम्हारे में देवतेज का प्राधान्य है, तुम्हारा वीर्य्यातिशय प्रसिद्ध है अतः क्लीब मत बनो। यह क्लैब्यभाव तुम्हारे उपयुक्त कदापि नहीं है क्योंकि तुमने जब साक्षात् देवादिदेव श्रीमहादेव को भी युद्ध में प्रसन्न किया है तब यह तुम्हारा प्रसिद्ध महत्प्रभावही सिद्ध करता है कि तुममें क्लैब्य भाव नहीं आना चाहिये। यदि तुम कहो कि मैंने पहलेही "न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः" इत्यादि आप से निवेदन करदिया है तो यह सब तुम्हारा क्षुद्र हृदयदौर्बल्य है। अस्तु मनके भ्रमयुक्त होजाने से जो अधैर्य्य उत्पन्न होता है वह क्षुद्र कारण से होता है अतः क्षुद्र है, उसको छोड़कर (विवेकद्वारा दूर करके) हे परन्तप ! उठो और युद्ध के लिये प्रस्तुत हो। परन्तप शब्द का अर्थ यह है कि जो अपने शत्रुओं को अपने तेज और युद्धशक्ति से

तपायमान करे। श्रीभगवान् ने पार्थ सम्बोधन द्वारा अर्जुन को उसकी जन्ममर्य्यादा की ओर ध्यान करवाकर उसका कर्त्तव्य समझाया है और परन्तप सम्बोधन द्वारा अर्जुन के प्रमाद और भ्रम दूर करने के अर्थ अर्जुन का निज स्वरूप और उसकी शक्ति का स्मरण उसको दिलारहे हैं।

श्रीभगवान् के वचनरूप इस दूसरे श्लोक में उक्त दोनों सम्बोधनपद जिस प्रकार गम्भीर भावयुक्त हैं उसी प्रकार क्लैब्य शब्द भी बहुत ही गम्भीर विज्ञानयुक्त है। संसार में पूर्ण अधिकार दो ही हैं। एक स्त्री अधिकार और दूसरा पुरुष अधिकार। जिस स्त्री में कीर्ति, श्री, धृति, शील, स्वधर्म्मजनित पवित्रता आदि गुणावली हो वही आदर्श स्त्री है। उसीप्रकार जिस पुरुष में पुरुषार्थ, ओज, तेज, कर्त्तव्यनिष्ठा और वर्णाश्रमोचित धर्म्म आदि गुणावली विद्यमान हो वही आदर्श पुरुषपदवाच्य है। परन्तु क्लीब जीव न नारी के पवित्र गुणों और न पुरुष के पवित्र गुणों को धारण करसक्ता है। क्लीब किसी भी काम का नहीं होता। अस्तु श्रीभगवान् कहते हैं कि हे पार्थ! मनुष्यत्वहीन क्लैब्यभाव को त्याग करो। यश स्वर्ग और मुक्तिप्रद स्वधर्म्म पालन करने के अर्थ प्रमाद छोड़कर खड़े होओ॥ ३॥

अर्ज्जुन उवाच।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन!।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन!॥ ४॥

(अन्वयः) अर्ज्जुनः उवाच। (हे) मधुसूदन! अहं संख्ये

(युद्धे) भीष्मं द्रोणं च इषुभिः (बाणैः) कथं प्रतियोत्स्यामि (हे) अरिसूदन! (तौ) पूजार्हौ ॥ ४ ॥

(भाषानुवाद) अर्जुन ने कहा। हे मधुसूदन! मैं युद्ध में कैसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य्य से बाणों के द्वारा प्रतियुद्ध करूँगा, हे अरिसूदन! वे दोनों पूज्य हैं ॥ ४ ॥

(भाषाभाष्य) श्रीभगवान् के उपर्य्युक्त वचनों को सुनकर अर्जुन के चित्त में अनेक सन्देह उत्पन्न हुए। क्या भगवान् ने मुझको कायर समझा? शोक और मोह से अभिभूत समझा? धर्म्मत्यागी समझा? इत्यादि सोचने लगे एवं ऐसी दशामें युद्ध करना अधर्म्म है, अन्याय है और धर्म्मयुद्ध नहीं है इत्यादिरूप अपने भ्रममूलक सिद्धान्त को प्रकट करने के अर्थ कहने लगे कि भीष्म और द्रोण पूज्य हैं उनके साथ बाणों से युद्ध कैसे करूँगा। तात्पर्य्य यह है कि जिनके लिये वाणी से भी "लड़ूँगा" ऐसा कहना अनुचित है उनसे बाणों के द्वारा युद्ध कैसे करूँगा। भीष्म पितामह हैं और द्रोण आचार्य्य हैं, इन पर प्राणसंहारक बाणों का प्रहार कैसे करूँगा क्योंकि पुष्पादि द्वारा इन पूजा करने योग्य व्यक्तियों के साथ हँसी के तौर पर क्रीडायुद्ध करनाभी अनुचितहै। एकसाथही मधुसूदन और अरिसूदन ये एकभावप्रकाशक दो सम्बोधनपद कहने से अर्जुन की शोक से व्याकुलता और श्रीभगवान् के उक्त परामर्श वाक्य से उत्पन्न व्याकुलता, दोनों ही सूचित होती

हैं। भीष्मादि को वध करना तो दूर रहे किसी भी प्रकार का युद्ध उनसे उचित नहीं है इसको प्रतिपादन करने के अर्थ ही "योत्स्यामि" के साथ "प्रति" उपसर्ग का प्रयोग अर्जुन ने किया है। अर्थात् ये परमपूज्य व्यक्ति मुझ पर प्रथम प्रहार करें तौ भी प्रतिप्रहार मैं नहीं करसक्ता।

कौरवों की सेना में जितने योद्धा थे उन सबमें विशेष पूज्य होने के लक्ष्य से भीष्म और द्रोण का नाम अर्जुनने लिया है। संसारमें मनुष्य के दो ही सम्बन्ध हैं, एक अधिभूत सम्बन्ध और दूसरा अध्यात्म सम्बन्ध, अतः गुरुपद वाच्य भी दोही होंगे। एक स्थूल शरीर प्राप्ति सम्बन्ध से, और दूसरे आध्यात्मिक उन्नति सम्बन्ध से। स्थूल शरीर सम्बन्धीय गुरुओं से अज्ञानावृत प्रथमावस्था में बहुत कुछ सहायता प्राप्त हुआ करती है, यहां तक कि माता पिता के धर्म्माचरण और सदाचार पालन से ही आधिभौतिक शुद्धि प्राप्त हुआ करती है जिसके विना आध्यात्मिक ज्ञान का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ करता। एवं जिसका अन्तिम फल आध्यात्मिक ज्ञान की पूर्णता है उस उपदेश को प्रदान करनेवाले विद्यागुरु से आदि लेकर गुरुलोग आध्यात्मिक उन्नति-सम्बन्ध के गुरु हैं। इनकी कृपा से आधिभौतिक शुद्धि सम्पन्न अधिकारी आधिभौतिक शुद्धि की रक्षा करता हुआ आधिदैविक और आध्यात्मिक शुद्धि को प्राप्त करके मुक्त होता है। वर्त्तमान प्रसङ्ग में अर्जुन ने आधिभौतिक सम्बन्ध से भीष्म का नाम लिया है क्योंकि वे पितामह हैं

और आध्यात्मिक सम्बन्ध से द्रोण का नाम लिया है क्योंकि वे विद्यादाता आचार्य्य हैं। वर्त्तमान अवस्था के सर्व्वश्रेष्ठ मेरे दोनों गुरुओं को आगे रखकर दुर्योधन युद्ध करने को उद्यत है अतः गुरुओं के साथ युद्ध करना शास्त्र विरुद्ध और अनुचित होने के कारण धर्म्म नहीं होसक्ता है यह अर्जुन का हृद्गतभाव है क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि:—

गुरुं हुं कृत्य तुं कृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः॥

जो व्यक्ति गुरुजनों के प्रति हुंकार (तर्जन) किंवा तू इस पद का व्यवहार करे, अथवा ब्राह्मण को वादमें परास्त करे वह मरने पर कङ्क गृध्र आदि के निवासस्थल श्मशान के वृक्षरूप से जन्म ग्रहण करता है।

इस शास्त्रवचन से केवल "शब्द" के द्वारा ही जब गुरु का अपमान और गुरुद्रोह होना सिद्ध होता है तो उन लोगों के साथ "संग्राम करना अधर्म्मरूप है" इस में तो सन्देह ही क्या होसक्ता है। इस प्रकार से अर्जुन अपनी कायरता, शोकमोहाभिभूतता और स्वधर्म्मत्यागता का परिहार कररहा है॥ ४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वाऽर्थकामाँस्तु गुरूनिहैव,
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

(अन्वयः) महानुभावान् गुरून् अहत्वा हि (निश्चयेन) इह लोके भैक्ष्यं (भिक्षान्नं) अपि भोक्तुं श्रेयः। गुरून् हत्वा तु इह एव रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् भुञ्जीय ॥ ५ ॥

(भाषानुवाद) महानुभाव गुरुओं को न मारकर इस लोक में भिक्षान्न भी भक्षण करना निश्चय ही अच्छा है; अन्यथा गुरुओं को मारकर इस लोक में ही रुधिर से लिप्त अर्थकामात्मक भोगसमूह को उपभोग करना होगा ॥ ५ ॥

(भाषाभाष्य) यदि श्रीकृष्ण यह कहें कि कौरवों को विना मारे तुम्हारी देहयात्रा का निर्व्वाह भी नहीं होगा तो उसके उत्तर में अर्जुन कहते हैं कि द्रोणाचार्य्यादि महानुभाव गुरुओं को न मारकर अर्थात् परलोकमें नरकप्रद यह गुरुहत्या न करके यदि मुझको इस लोक में भिक्षान्न भी खाना पड़े तो कल्याणकारक है। गुरु आदिकों का हनन परलोक में ही केवल दुःखप्रद नहीं है किन्तु इस लोक में भी नरकसमान दुःखप्रद है क्योंकि इनको मार कर रुधिर से लिप्त अर्थकामात्मक भोग मैं भोगूँगा। अथवा अर्थलोलुप गुरुओं को मारकर रुधिरप्रदिग्ध भोगों को भोगूँगा। भोगों की प्राप्ति रुधिरपातमूलक होने से भोग रुधिरप्रदिग्ध हुए। जैसे जो भिक्षुक बलपूर्व्वक लोगों से भिक्षा लेता है उसको रक्तभिक्षा कहते हैं और अयाचित भिक्षा अमृतभिक्षा कहाती है; उसी प्रकार जो भोग मार

काट से प्राप्त हों वे भोग रुधिरलिप्त हैं ऐसा कहना युक्ति-युक्त ही है। शास्त्रों में लिखा है कि :—

अमृतं स्यादयाचितम् ।

विना माँगी जो भिक्षा आवे वह अमृतभिक्षा मानी जाती है।

यदि श्रीभगवान् श्रीकृष्ण कहें कि "इस समय उनको तुम गुरु कैसे मानते हो क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि:—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्य्याऽकार्य्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥

अहंकारी, कार्य्याऽकार्य्यज्ञानशून्य और कुमार्ग में प्रवृत्त गुरु का परित्याग करना चाहिये।

वे तुम्हारे गुरु लोग युद्ध के अहङ्कार में उन्मत्त हैं अतः अहंकारी हैं, अन्याय से राज्य लेलेने से एवं शिष्य द्रोह करने से कार्य्याऽकार्य्यविवेकशून्य हैं और धर्म्मपथ परित्याग करने से उत्पथगामी हैं इन गुरुओं का परित्याग करके इनमें गुरुभाव न मानकर इनसे युद्ध करो।" इस के उत्तर में अर्ज्जुन महानुभावान् शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। इससे सूचित करते हैं कि ये साधारण गुरु नहीं हैं कि इनका परित्याग किया जावे, ये महानुभाव हैं। अर्ज्जुन धर्म्मयुद्ध में उदरपूर्त्तिरूप फल को लेकर अधर्म्मत्व का आरोप कररहे हैं और वेद-शास्त्र-सम्पन्न होने के कारण भीष्मादिकों का प्रभावशाली होना सिद्ध करते हुए महानुभाव शब्द के प्रयोग द्वारा यह सूचित करते हैं कि काल

और कामादिकों को जिन्होंने वश में करलिया है ऐसे पुण्यात्मा पुरुषों में अहंकारादि दोष नहीं होसक्ते। उन्होंने धर्म्म का उल्लङ्घन किया है तौ भी मेरे गुरु हैं क्योंकि श्रीमद्भागवत में लिखा है कि:—

धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्।
तेजस्विनां न दोषाय वह्नेः सर्व्वभुजो यथा॥

धर्म्म का व्यतिक्रम करना ऐश्वर्ययुक्त (शक्तिसम्पन्न) पुरुषों का साहस है। तेजस्वी पुरुषों के लिये वह दोषावह नहीं है, जैसे अग्नि में शुद्धाऽशुद्ध सब वस्तुएँही भस्म होती हैं परन्तु अग्नि में शुद्ध अथवा अशुद्ध वस्तुओं का कुछ भी परिणाम नहीं होता।

"हिमहानुभावान्" ऐसा पद करके इससे यह भाव भी लेसक्ते हैं कि हिम अर्थात् जडता (अज्ञान) को जो नाश करे उसके समान अनुभाववाले। तात्पर्य्य यह है कि अतितेजस्वी होने से उनमें अवलिप्तादि (अहंकारादि) दोष होही नहीं सक्ते। वे अर्थलोभ से युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं क्योंकि महाभारत में लिखा है कि:—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

अर्थ का पुरुष दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है। हे महाराज युधिष्ठिर! यह सत्य कहता हूँ कि मैं कौरवों के द्वारा अर्थविषयक बन्धन को प्राप्त हुआ हूँ।

इस वचन के द्वारा भीष्मादिकों की जो अवस्था है

वह महानुभाव की अवस्था नहीं है यदि श्रीकृष्ण महाराज ऐसी शङ्का करें तो उसके उत्तर में अर्ज्जुन एकही श्लोक में पुनः गुरु शब्द का प्रयोग करके सूचित करते हैं कि उन्होंने अर्थलुब्ध होनेपर भी अपने मृत्यु का उपाय जब मुझको बताया है तो वे मेरे गुरुही हैं। ऐसे गुरुओं को मारकर भी तो इस लोक में निन्दित भोगही प्राप्त होंगे। इस प्रकार अर्ज्जुन अनधिकार चर्च्चामें प्रवृत्त होकर अपने क्षत्रियधर्म्म के विरुद्ध मतका प्रतिपादन कररहे हैं ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो,
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामः,
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

(अन्वयः) (द्वयोर्भैक्ष्ययुद्धयोर्मध्ये) नः (अस्माकं) कतरत् (किन्नाम) गरीयः (श्रेष्ठं) (भविष्यति इति) न च एतत् विद्मः (जानीमः) यद्वा (एतान् वयं) जयेम (जेष्यामः), यदिवा नः (अस्मान्) (एते) जयेयुः (जेष्यन्ति), (फलतः अस्माकं जयोऽपि पराजय एवेत्याह) यान् एव हत्वा न जिजीविषामः (जीवितुं न इच्छामः) ते धार्त्तराष्ट्राः प्रमुखे (सम्मुखे) अवस्थिताः ॥ ६ ॥

(भाषानुवाद) (भिक्षा और युद्ध इन दोनों में) हमारे लिये कौन ठीक है यह हम नहीं जानते हैं,

या तो (इनको हम) जीतेंगे या हमको (ये) जीतेंगे, जिनको मार करके भी जीने की इच्छा (हम) नहीं करते हैं वे धार्त्तराष्ट्र (कौरव) सन्मुख में उपस्थित हैं ॥ ६ ॥

(भाषाभाष्य) यदि श्रीभगवान् श्रीकृष्ण यह कहें कि "भिक्षान्न खाना क्षत्रिय के वास्ते निषिद्ध है और युद्ध क्षत्रिय के लिये विहित है इस कारण स्वधर्म्म होने से युद्ध ही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है," उसके उत्तर में अर्जुन कहते हैं कि मैं यह नहीं जानता कि भैक्ष्य और युद्ध इन दोनों में हमारे लिये कौन श्रेष्ठ है; अर्थात् हिंसाशून्य होने से भैक्ष्य श्रेष्ठ है अथवा स्वधर्म्म होने से युद्ध श्रेष्ठ है, यह हम नहीं जानते हैं। युद्ध के प्रारम्भ करने पर भी हम जीतेंगे कि वे हमको जीत लेंगे, यह निश्चय नहीं है। इस वचन से अर्जुन दोनों पक्षों की साम्यता सूचन कर रहे हैं अतएव जय पराजय में संदिग्धता प्रकट की है। फिर कहते हैं कि इतने पर भी यदि हमारा जय हो भी जावे तो फलतः वह हमारा पराजय ही है, क्योंकि जिन बन्धुओं को मारकर सांसारिक विषयों का भोग तो अन्य बात है, हम जीना भी नहीं चाहते हैं वे धृतराष्ट्र का पक्ष लेनेवाले भीष्म द्रोणादि सबही लड़ने के लिये प्रस्तुत हैं इसलिये भैक्ष्य युद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अर्जुन इस प्रकार अपने क्षत्रिय-धर्म्मविरुद्ध असत् पक्ष का समर्थन कररहे हैं।

प्रथमाध्याय में और द्वितीयाध्याय के पञ्चम श्लोक

पर्य्यन्त संसार के विविध दोषों का प्रदर्शन और वर्णाश्रमियों के धर्म्माधिकारभेद निरूपित हुए हैं । प्रथमाध्याय के " न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे" इस इकतीसवें ३१ श्लोकार्द्ध के वाक्य से युद्धकाल में वीर के मरने पर योगयुक्त संन्यासी के समान योगक्षेमादि की प्राप्ति वर्णित हुई है एवं उसके द्वारा मोक्षरूप श्रेय का कथन हुआ है तथा उसके अतिरिक्त समस्तही अश्रेय है इस आभास से नित्यानित्य वस्तुविवेक दिखाया गया है । " न काङ्क्षे विजयं कृष्ण ! न च राज्यं सुखानि च " इस इकतीसवें ३१ श्लोकार्द्ध के वाक्य से संसार के विषयसुख में वैराग्य वर्णित हुआ है । " अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते " इस पैंतीसवें ३५ श्लोकार्द्ध के वाक्य से स्वर्गादि सुखों में भी वैराग्य कथित हुआ है । "नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम" इस तेंतालीसवें ४३ श्लोकार्द्ध के वाक्य से स्थूल शरीर से स्वतन्त्र आत्मा वर्णित हुआ है । " किन्नो राज्येन गोविन्द ! " इस बत्तीसवें ३२ श्लोक के वाक्य द्वारा मनोनिग्रहरूप शम प्रदर्शित हुआ है । " किं भोगैर्जीवितेन वा" इस बत्तीसवें ३२ श्लोक के वाक्य द्वारा इन्द्रियनिग्रहरूप दम गुण कथित हुआ है । "यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः" इस सैंतीसवें ३७ श्लोकार्द्ध द्वारा निर्लोभिता वर्णित हुई । " तन्मे क्षेमतरं भवेत् " इस पैंतालीसवें ४५ श्लोक के द्वारा तितिक्षादि प्रदर्शित हुआ है इस प्रकार प्रथम अध्याय में ससंन्यास

साधन की सूचना कीगई है। "श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके" द्वितीयाध्याय के इस पांचवें श्लोक से संन्यास उपलक्षित हुआ है। अतःपर ब्रह्मसाक्षात्कार के अर्थ ब्रह्मवेत्ता गुरु के समीप शिष्य गमन करे यही श्रुति का मत है। इह लोक और परलोक गत विषयसुखों में वैराग्यवान् होकर जो ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरणागत होता है वह ब्रह्मविद्यालाभ का अधिकारी है। श्रुति की नियति के क्रम से अर्ज्जुन की भिक्षाचर्य्या अर्थात् संन्यासग्रहण की प्रवृत्ति अब तक प्रदर्शित हुई है। अब अगले श्लोक के द्वारा ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरणागत होना प्रदर्शित किया जाता है॥ ६॥

कार्प्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्म्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

(अन्वयः) कार्प्पण्यदोषोपहतस्वभावः (दैन्यदोषविदूषितचित्तः) धर्म्मसम्मूढचेताः (क्षत्रियस्य युद्धं धर्म्मो न वेति सन्दिग्धचित्तः) (अहं) त्वां पृच्छामि, (अतः) मे यत् श्रेयः स्यात्, तत् निश्चितं ब्रूहि (कथय) अहं ते (तव) शिष्यः, (अतः) त्वां प्रपन्नं (शरणागतं) मां (त्वं) शाधि (शिक्षय)॥ ७॥

(भाषानुवाद) दैन्यदोषविदूषितस्वभाव, धर्म्मसम्मूढ चित्त (मैं अर्ज्जुन) तुमको पूँछताहूँ, मेरा जो कल्याणकर हो वह निश्चयपूर्व्वक कहिये, मैं तुम्हारा

शिष्य हूँ, तुम्हारे शरण आये हुए मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

(भाषाभाष्य) अब अर्ज्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ होकर जिज्ञासुरूप से भगवच्छरणापन्न होते हुए कर्त्तव्य निर्द्धारण करदेने के अर्थ प्रार्थना कररहे हैं। यहां यह प्रश्न होसक्ता है कि युद्ध के समय में शौर्य्य का अवलम्बन उपयुक्त है उसके स्थान में यह कर्त्तव्यविमूढता अर्ज्जुन सदृश महापुरुष को क्यों हुई? इसका उत्तर अर्ज्जुन अपनी अवस्था वर्णन करते हुए इसी श्लोक में विशेषण पदों के द्वारा देते हैं। श्रुति में लिखा है कि:—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मा—
ल्लोकात्प्रैति स कृपण इति।

जो भगवत्साक्षात्कार न करके इस लोक से प्रयाण करता है वही कृपण है।

संसार में जो पुरुष थोड़े भी धनक्षय को नहीं सहन करसक्ता है वह कृपण कहा जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि संसार में जन्म लेकर जो अनात्म वस्तुओं में अध्यास रखता हुआ आत्मसाक्षात्कार नहीं करसक्ता है और जो लौकिक पदार्थों का त्याग भी नहीं करसक्ता है वे दोनों ही कृपण हैं। आत्मीयों के मरने का उपक्रम देखकर अर्ज्जुन विचार करता है कि इनके मरने पर मेरा जीना व्यर्थ है यही त्यागहीनता कार्प्पण्यदोष है। अर्ज्जुन इसी ममता-लक्षण दोष से दूषित होने के कारण उस समय

अपने स्वाभाविक युद्धोद्योगलक्षण क्षात्रस्वभाव से रहित होगये थे सो अपने ही मुख से वर्णन कररहे हैं। वर्त्तमान अवस्था में आत्मीयों का वध धर्म्म है ? या उनका पालन करना धर्म्म है ? पृथिवी का पालन धर्म्म है ? या वन में जाकर भैक्ष्यचर्य्या से निर्व्वाह करना धर्म्म है ? इन प्रश्नों के निर्णायक प्रमाणों के अविदित होने से अर्ज्जुन का चित्त संशयव्याप्त होरहा है सो "धर्म्मसम्मूढचेताः" इस पद से स्पष्ट ही है। श्रेय दो प्रकार के होते हैं, एक ऐकान्तिक और दूसरा आत्यन्तिक। जिसके साधन के पश्चात् ही फलका अवश्यम्भावित्व हो वह ऐकान्तिक श्रेय है और जिसके साधन से जो फल उत्पन्न होगया वह फिर नाश नहीं होगा ऐसे श्रेय को आत्यन्तिक श्रेय कहते हैं। औषध करने पर भी कदाचित् रोगनिवृत्ति न हो और रोगनिवृत्ति यदि हो भी जावे तो सम्पूर्णतया रोग निवृत्ति नहीं होती एवं पुनः रोग के उत्पन्न होजाने से वह नष्ट हो जाती है। अथवा यज्ञ के करने पर भी किसी प्रतिबन्धक के होने से स्वर्ग न हो और यदि स्वर्ग हुआ भी तो वहांका सुख दुःखमिश्रित होने से एवं नियतकालव्यापी होने से पतन अवश्य होगा, इस कारण ये दोनों प्रकार के श्रेय ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नहीं हैं। इसी कारण सांख्यकारिका में कहा है किः—

दुःखत्रयाऽभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्ताऽऽत्यन्ततोऽभावात्॥

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयाऽतिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥

आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिकरूप दुःख-त्रय का अभिघात जीव को सर्व्वदा होने के कारण उनके अपघातक हेतु की जिज्ञासा हुआ करती है। यदि दृष्ट उपाय के विद्यमान रहने से वह जिज्ञासा व्यर्थ समझी जाय तो दृष्ट उपाय ऐकान्तता और अत्यन्तता से रहित है अतः इस जिज्ञासा का वैय्यर्थ्य नहीं होसक्ता है। और आनुश्रविक अर्थात् वेदबोधित कर्म्म भी दृष्टउपाय के ही सदृश हैं क्योंकि वे भी क्षय और अतिशय से युक्त हैं। अर्थात् उन कर्म्मों के फलका उपभोग होजाने पर फिर दुःख का उदय होता है एवं उन कर्म्मों के फल-प्राप्तिरूप सुखमें भी तारतम्य होता है इस कारण एक को अधिक सुखसम्पन्न देखकर अपर को अत्यन्त दुःख होता है। इन सब कारणों से दृष्ट और आनुश्रविक दोनों प्रकार के उपाय दुःखत्रयाभिघात के यथार्थ हेतु नहीं होसक्के। इन दोनों से अन्य उपाय ही श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें व्यक्तप्रकृति, अव्यक्तप्रकृति और पुरुष इन सब का विज्ञान प्राप्त होता है जिस से दुःखत्रय ऐकान्तिक और आत्यन्तिकरूप से नाश होजाते हैं।

अस्तु अर्ज्जुन वर्तमान जिज्ञासा का उत्तर ऐकान्तिक और आत्यन्तिक श्रेयरूप से चाहते हैं इसीसे "निश्चितम्" इस पदका प्रयोग किया है। गुरुभाव के उत्पन्न हुए विना

यथार्थ जिज्ञासा नहीं उत्पन्न होसक्ती इस कारण अर्जुन अपने को शिष्य बतलाता हुआ श्रीभगवान् को गुरुरूप से स्वीकार करता है । और गुरुभाव के उत्पन्न होने पर भी जब तक शिष्य श्रीगुरुदेव के सम्पूर्णरूपेण शरणागत न हो तब तक न तो पूर्णरूपेण वास्तविक जिज्ञासा का ही उदय हो सक्ता है और न परमात्मस्वरूप श्रीगुरुदेव की पूर्ण कृपा ही प्राप्त होसक्ती है। जिस प्रकार श्रीभगवान् अनन्य भक्त के ही योगक्षेम को स्वयं वहन किया करते हैं उसी प्रकार परमात्मस्वरूप श्रीगुरुदेव भी सम्पूर्णरूपेण शरणागत शिष्य की उन्नति के पथ को सम्पूर्णरूपेण निष्कण्टक बना देते हैं। इसी कारण प्रकृतप्रसङ्ग में अर्जुन अपने को "प्रपन्न" इस पद के प्रयोग द्वारा शरणागत बतला रहा है। अन्त में अर्ज्जुन "शाधि" पद का प्रयोग करते हुए जिज्ञासा के स्वरूप को पूर्णता दे रहे हैं। अर्थात् "मुझे शासन करो" "मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य होगी" ऐसा स्वीकार करता हुआ सखाभाव को उस समय में सम्पूर्णरूपेण भूलकर शिष्यत्वभाव का प्रकाश कर रहा है। और धर्म्माधर्म्म ज्ञान में श्रीभगवान् की पूर्णता द्योतन कर रहा है। श्रीभगवान् सम्भव है इस समय इस प्रकार धर्म्माधर्म्मज्ञानसम्बन्धीय उपदेश न दें इसी कारण अर्ज्जुन ने "शिष्यः" इस स्पष्ट शब्द से अपने को अधीन जिज्ञासु और श्रीभगवान् को अनुशासनप्रयोक्ता परमज्ञानी प्रतिपादन किया है । इस श्लोक से अर्ज्जुन का निम्नलिखित

श्रुति के अर्थ का प्रयोग करना बतलाया गया है :—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् ।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

ज्ञान प्राप्त करने के अर्थ समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय (वेदज्ञानसम्पन्न) गुरु के निकट जावे ।

महर्षि भृगु अपने गुरु के निकट इसी तरह प्राप्त हुए थे जिसका वर्णन श्रुति में इस प्रकार किया है :—

भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार
अधीहि भगवो ब्रह्म ।

वरुणदेव के पुत्र महर्षि भृगु पिता वरुणदेव के निकट गये और प्रार्थना की कि हे भगवन् ! मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये ।

सारांश यह है कि इस श्लोक के द्वारा अर्जुन अपने को उपयुक्त जिज्ञासु शिष्य प्रतिपादन करके अनन्यरूप से अधीन होता हुआ वर्त्तमान समय के कर्त्तव्यरूप ऐकान्तिक और आत्यन्तिक श्रेय की जिज्ञासा करता है ।

मनुष्य की ज्ञानोन्नति के क्रम चार हैं । प्रथम दशा में मनुष्य अपने मलिन अहङ्कार के वशीभूत होकर दूसरे के मत के खण्डन में प्रवृत्त होता है । दूसरी दशा में वह अपनी ज्ञानोन्नति का दूसरा अधिकार प्राप्त करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि में प्रवृत्त होता है । यह दोनों दशा मलिन अहङ्कार की हैं और निन्दनीय हैं । इन दोनों को वितण्डा

और जल्प कहते हैं। जब मनुष्य शुद्ध अहङ्कार की दशा को प्राप्त करके यथार्थ तत्त्व-निर्णय के अर्थ किसी योग्य व्यक्ति से विचार में प्रवृत्त होता है और सच्चे हृदय से सद् विचार द्वारा वितण्डा और जल्प की दशा को छोड़कर यथार्थ तत्त्व निर्णय को ही अपना लक्ष्य समझता है यही उन्नत अवस्था वाद कहलाती है। परन्तु वाद की दशा भी पूर्ण ज्ञानप्राप्ति में सहायक कदापि नहीं हो सक्ती, क्योंकि उस दशा में मलिन अहङ्कार नष्ट होने पर भी अहङ्कार का पूरा सम्बन्ध बना रहता है। उस समय में वह ज्ञानी यह समझता है कि मैं भी ज्ञानी हूं और मेरा प्रतिवादी भी ज्ञानी है, दोनों मिलकर परामर्श करें, सुतराम् अहङ्कार का पूरा सम्बन्ध बना रहनेसे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में असुबिधा रहती है। ज्ञानोन्नति की चौथी और सर्व्वोत्तम अवस्था वो है कि जिस अवस्था में जिज्ञासु एकबारही अपने अहङ्कार को विस्मृत होकर यह समझने लगता है कि मेरे गुरुदेवही परम ज्ञानी हैं और मेरा कल्याण इन्हीं के उपदेश से होसक्ता है। अर्ज्जुन अब वितण्डा जल्प और वाद इन तीनों अवस्थाओं को अतिक्रमण करके जिज्ञासा की सर्व्वोत्तम अवस्था में आपहुँचा है। मनुष्य की इन अवस्थाओं में क्रमोन्नति क्रमशः अनेक दिनोंमें होती है परन्तु श्रीभगवान् की कृपाप्राप्ति होने से अति शीघ्रही अर्ज्जुन को अधिकारी की सर्व्वोत्तम दशा अब प्राप्त होगई है। विना आधार के आधेय नहीं ठहर सक्ता, जब तक अन्तःकरण

में अहङ्कार की कालिमा रहती है तब तक अन्तःकरण में तत्त्वज्ञान की विमलज्योतिका विकाश नहीं होसक्ता। अहङ्काररहित गुरु-शरणापन्न नम्र शिष्य को ही तत्त्वज्ञान लाभ होसक्ता है। अर्ज्जुन के इस वचन द्वारा अर्ज्जुन की ऐसी उन्नत दशा सूचित होती है ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र यदि यह कहें कि "तुम श्रुतसम्पन्न हो, क्यों शिष्य बनते हो, अपना श्रेय स्वयं ही विचारलो" अतः अर्ज्जुन उसका उत्तर अग्रिम श्लोक से देते हैं :—

न हि प्रपश्यामि ममाऽपनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाऽधिपत्यम् ॥ ८ ॥

(अन्वयः) भूमौ (पृथिव्यां) असपत्नं (निःशत्रु) ऋद्धं (समृद्धं) राज्यं, (तथा) सुराणां अपि आधिपत्यं च अवाप्य यत् (कर्म्म) मम इन्द्रियाणां उच्छोषणं (अतिशोषकरं) शोकं अपनुद्यात् (निवारयेत्) (तत् कर्म्म) न हि प्रपश्यामि ॥ ८ ॥

(भाषानुवाद) पृथिवी पर शत्रुरहित समृद्ध राज्य को और देवताओं के आधिपत्य को भी प्राप्त होकर जो (उपाय) मेरी इन्द्रियों को शोषण करने वाले शोक को निवारण करे (उसको) मैं नहीं ही देख रहा हूं ॥ ८ ॥

(भाषाभाष्य) पूर्व श्लोक से अर्ज्जुन अपनी सात्त्विकी जिज्ञासा को प्रकट करके अब उसीको इस श्लोक के द्वारा और भी दृढ़ कर रहे हैं। श्रुति में लिखा है कि:—

सोऽहं भगवः शोचामि त्वं मा भगवन् !
शोकस्य पारं तारयत्विति।

हे भगवन्! मैं शोकयुक्त हूँ, हे भगवन्! आप मुझको शोक के पार उतार दीजिये।

इस श्रुत्यर्थ के अनुसार श्रीभगवान् से अर्ज्जुन शोक-रहित कर देने की प्रार्थना कर रहे हैं। यदि श्रीकृष्ण महाराज यह कहें कि शोक न मिटेगा तो क्या होगा? उसके उत्तर में "इन्द्रियाणां उच्छोषणं" इन पदों के द्वारा उस शोक की अत्यन्त सन्तापजनकता अर्ज्जुन प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि "युद्ध में जय हो या मरण हो, इन दोनों अवस्थाओं मेंही शोक का मिटना सम्भव है क्योंकि जय होने पर इस लोक में राज्य प्राप्ति और सन्मुख युद्ध में मरण होने पर परलोक में स्वर्ग प्राप्ति निश्चित है" तो उसके उत्तर में अर्ज्जुन कह रहे हैं कि इस लोक में शत्रुरहित राज्य और परलोक में इन्द्रत्व भी प्राप्त हो जाय तो वह शोक नहीं मिटसक्ता है क्योंकि श्रुति में कहा है कि:—

यथेह कर्म्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवाऽ
मुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।

जैसे इस लोक में कर्म्मफल भोग होने पर अवस्थान्तर होता है उसी तरह परलोक से पुण्यफल भोग होने पर पतन होता है।

इससे सिद्ध हुआ कि जो किया हुआ है वह अवश्य अनित्य है और प्रत्यक्ष में आत्मीयों का नाश होता है अतः आमुत्रिक और ऐहिक भोग शोकनिवर्त्तक नहीं हैं; अर्थात् हमारे किये हुए कर्म्मों के द्वारा जो परलोक में स्वर्ग-प्राप्ति होगी वह अनित्य है क्योंकि वह कृतक है और राज्यप्राप्ति आत्मीयों को मारकरही तो होगी अतः ये दोनों ही शोकनिवर्त्तक नहीं होसक्तीं॥ ८॥

सञ्जय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

(अन्वयः) सञ्जयः उवाच। हृषीकेशं एवं उक्त्वा परन्तपः (शत्रुक्लेशकारी) गुडाकेशः (जितनिद्रः अतिसावधान इत्यर्थः अर्जुनः) (अहं) न योत्स्ये (युद्धं न करिष्यामि) इति गोविन्दं उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

(भाषानुवाद) सञ्जय बोले। अन्तर्य्यामी (श्री कृष्ण) को यह कहकर शत्रुमर्दन विजितालस्य (अर्ज्जुन) "(मैं) युद्ध नहीं करूंगा" ऐसा गोविन्द (श्रीकृष्ण) को बोलकर चुप होगये॥ ९॥

(भाषाभाष्य) इतना कहने के अनन्तर अर्ज्जुन ने

क्या किया यह जानने की आकांक्षा धृतराष्ट्र की हुई उसके उत्तर में सञ्जय कहते हैं कि अघटनघटनापटीयसी महामाया की लीला अपार है, अर्ज्जुन फिर मोहयुक्त होकर " न योत्स्ये " यह कहकर चुप होगये। इस सञ्जय के वचन में " गुडाकेशः " और " परन्तपः " इन दो विशेषणों के द्वारा अर्ज्जुन की जितालस्यता और शत्रुओं को पीड़ित करने की शक्ति व्यक्त करते हुए मोह को आगन्तुक बतलाया गया है; अर्थात् इस समय आलस्यरहित और शत्रुतापन अर्ज्जुन में आलसीपन और शत्रुओं के नाश का भय उत्पन्न हुआ है वह स्वाभाविक नहीं है आगन्तुक है यह सिद्ध किया गया है। एवं " हृषीकेशं " और " गोविन्दं " इन दो पदों के द्वारा श्रीभगवान् का सर्व्वेन्द्रियप्रवर्त्तक होने से अन्तर्य्यामी होना तथा सब वेदों के उपादान कारण होने से सर्व्वज्ञ होना जतलाया गया है। अर्ज्जुन प्रथम " कथं भीष्ममहं संख्ये " इत्यादि श्लोकों के द्वारा युद्ध के स्वरूप की अयोग्यता कहकर युद्ध के फल का अभाव बतलाने के लिये " न योत्स्ये " कह कर चुप हो गये; अर्थात् युद्ध के लिये किये हुए कर्म्मों से निवृत्ति होजाने के कारण निष्क्रिय होगये। स्वभावतः जितालस्य और सर्व्व-शत्रुतापन अर्ज्जुन में आगन्तुक आलस्य और अतापकत्व शोभा नहीं देता है इसीको जतलाने के अर्थ " ह " इसका प्रयोग अन्त में किया गया है। एवं गोविन्द और हृषीकेश इन दोनों सर्व्वज्ञत्व और सर्व्वशक्तिमत्त्वद्योतक शब्दों से श्रीभगवान् के लिये

अर्ज्जुन के मोह का अपनोदन अनायास साध्य है यह द्योतन किया गया है। पहले वैराग्य युक्त होकर गुरु के सन्मुख जिज्ञासु हुए थे परन्तु अब पुनः तमोगुण से मोह युक्त होकर कर्त्तव्य कर्म्म से विमुख होने की चेष्टा की है तथापि अर्ज्जुन का हृदय भगवच्छरणापन्न होने से च्युत नहीं हुआ था सो हृषीकेशं इस पद से स्पष्ट ही है॥ ९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत !।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

(अन्वयः) (हे) भारत! (धृतराष्ट्र!) हृषीकेशः प्रहसन् इव (प्रसन्नमुखःसन्) उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं तं (अर्ज्जुनं) इदं वचः उवाच॥ १०॥

(भाषानुवाद) (हे) भारत! (धृतराष्ट्र!) इन्द्रियाधिष्ठाता (श्रीकृष्ण) मुसकराते हुए दोनों सेनाओं के मध्य में विषादयुक्त होते हुए उस (अर्ज्जुन) को यह वाक्य बोले॥ १०॥

(भाषाभाष्य) यद्यपि सञ्जय ने पूर्व्व श्लोक में अर्ज्जुन के मोह का आगन्तुकत्व और श्रीभगवान् का उसके अपनोदन में सामर्थ्य इङ्गित से प्रकट कर दिया है तथापि कहीं (धृतराष्ट्र) अपने पुत्रों की अभीष्टसिद्धि का सुखस्वप्न न देखने लगे इसके अर्थ "श्री भगवान् अर्ज्जुन से आज्ञा करने लगे" इसी पद को पहले कह कर इस श्लोक का प्रारम्भ किया है। अर्ज्जुन ने युद्ध न करना अबकी यह द्वितीय वार निश्चय किया है अतः धृतराष्ट्र को ऐसी धारणा होना सम्भव है कि अब मेरे पुत्रों के पास राज्य रह जायगा

और युद्ध भी उनको करना नहीं पड़ेगा। अस्तु धृतराष्ट्र को यदि यह धारणा हो तो वह आकाशकुसुमवत् है इसके अर्थ ही "तमुवाच हृषीकेशः" यह प्रथम कहा गया है और श्रीभगवान् ने अर्ज्जुन की मोहवृत्ति की उपेक्षा नहीं की है यह भी इस श्लोक के कहने का कारण है। दोनों सेनाओं के मध्य में युद्ध के अर्थ आकर युद्ध न करनेवाले मोहप्राप्त अर्ज्जुन की मानो हँसी करते हुए; अर्थात् अनुचित आचरण के प्रकाश से लज्जा के समुद्र में उसको (अर्ज्जुन को) मानो डुबाते हुए सर्व्वान्तर्य्यामी भगवान् परमगम्भीरार्थ और अनुचिताचरणप्रकाशक यह आगे कहे जानेवाले वचन बोले; अर्थतः अर्ज्जुन की उस समय की वृत्ति की उपेक्षा न की। अनुचिताचरण के प्रकाश से लज्जोत्पादन करने को ही बहुधा प्रहास कहतेहैं और लज्जा दुःखात्मिका होती है। अनुचिताचरण को प्रकाश करके लज्जा उत्पन्न करने से अर्ज्जुन को शासन करना ही भगवान् का लक्ष्य है। मानो लज्जा उत्पन्न करते हुए विवेकोत्पत्ति के अर्थ ही अर्ज्जुन के अनुचिताचरण को भगवान् प्रकाशित कररहे हैं यह भी इसका भाव हो सक्ता है। लज्जोत्पत्ति का होना या न होना विवक्षित नहीं है और न लज्जोत्पत्ति विवेकोत्पत्ति में कारण ही हो सक्ती है परन्तु इस समय अर्ज्जुन के मोह को कुछ शिथिल करने के अर्थ ही लज्जोत्पत्ति आवश्यक थी यही भाव है। इस को यों भी समझ सक्ते हैं कि मोह से "किंकर्त्तव्यविमूढ़" अर्ज्जुन के प्रमाद को छुड़ाने के अभिप्राय से लज्जा देकर शासन किया गया

है। यदि युद्ध करने की तयारी से पहले ही युद्ध से उपेक्षा होती तो उतना अनुचित नहीं होता परन्तु इतना आगे बढ़कर फिर युद्ध की उपेक्षा करना अनुचित है यह प्रतिपादन करनेके अर्थही "सेनयोरुभयोर्मध्ये" ये पद दिये गये हैं। शिष्य के अन्तःकरण के गुण को देखकर यथावश्यक उपाय अवलम्बन करने से तब शिष्य गुरूपदेश को हृदयङ्गम कर सक्ता है। यदि शिष्य का अन्तःकरण तमोगुण के अन्धकार से आच्छन्न हो तो उस समय नाना प्रकार के शासनों की आवश्यकता होती है। यदि शिष्य का अन्तःकरण रजोगुण से चञ्चल हो तो उस समय उसकी प्रशंसा से या अपेक्षाकृत निम्न अधिकारी हो तो उसको सिद्धि आदि के लोभ प्रदर्शन कराने से उसके अन्तःकरण को उपदेश ग्रहण के उपयोगी किया जाता है। और सात्त्विक अन्तःकरणविशिष्ट शिष्य के लिये विज्ञान की व्याख्या ही परम हितकर होती है। अर्ज्जुन प्रथम "शिष्यस्तेऽहं" इस वचन के द्वारा यद्यपि शिष्यत्व का अधिकार प्राप्त कर चुके थे, यद्यपि उसी समय अर्ज्जुन के अन्तःकरण में विषयवैराग्य और जिज्ञासुपन प्रकट हो गया था परन्तु द्वितीय क्षण में जब उन्होंने गुरु से जिज्ञासु बनने पर भी अपने ही मत के प्रबल रखने के लिये "युद्ध नहीं करूँगा" ऐसा कहा तो स्पष्ट ही है कि अर्ज्जुन का अन्तःकरण पुनः तम की घोरघटा से आच्छन्न हो गया था और वे गुरुशिष्यसम्बन्ध भूल गये थे। इसी प्रमाद के अन्धकार में मानो बिजली के प्रकाश के सदृश श्रीभगवान् का हास्य प्रकट

हुआ और साथही साथ लज्जा देकर उनको शासन करना प्रारम्भ किया। श्रीभगवान् का शासन करते समय हँसना अति कृपा का ही प्रकाशक है। यह पहले ही स्पष्ट रूप से दिखाचुके हैं कि श्रीगीताजी के तीन स्वरूप क्या क्या हैं, और यह भी स्पष्टरूप से वर्णन करचुके हैं कि समाधि-भाषा से युक्त श्रीगीताजी के प्रत्येक श्लोक के ज्ञानीगण किस प्रकार से अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपी तीन प्रकार के अर्थ करसक्ते हैं। यद्यपि जगत् के बुद्धि भेद के भय से सब समय सब श्लोकों का त्रिविध अर्थ करना सम्भव नहीं परन्तु तत्त्वज्ञानी महापुरुषगण सब समय गीता के त्रिविधरूपों का दर्शन करते हुए और गीता के प्रत्येक श्लोक के त्रिविधभावपूर्ण त्रिविध अर्थों का अनुसन्धान करतेहुए ब्रह्मानन्द में मग्न होजाते हैं। सब प्रकार के मुमुक्षुओं के लिये केवल आधिभौतिक और स्थान स्थान पर आध्यात्मिक अर्थ का प्रकाश करना ही आचार्य्यगण यथेष्ट समझते हैं। जहां वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द का निज प्रियसखा अर्ज्जुन से सम्वाद युद्धक्षेत्र कुरुक्षेत्र में होरहा है ऐसी धारणा से अर्थ समझाया जाय वही श्रीगीताजी का अधिभौतिक अर्थ है। ज़ब उपद्रष्टा (साक्षीमात्र) अनुमन्ता (अनुग्राहक) भर्त्ता (भरणकर्त्ता) भोक्ता (प्रतिपालक) महेश्वर (ब्रह्मादि सब देवताओं का अधिपति) अन्तर्य्यामी (सब जीवपिण्डों के अन्तर में विराजमान) और सर्व्वव्यापक होने पर भी कूटस्थरूपसे सदा विद्यमान जो जगदीश्वरहैं उनके कृपापात्र जीव के साथ धर्म्म क्षेत्ररूपी पिण्डमें सम्वाद होने की धारणा

करतेहुए जो अर्थ समझा जाय वह श्रीगीताजी का आध्यात्मिक अर्थ है। अधिदैव अर्थ कुछ विचित्रही है; उसका सम्बन्ध कर्म्मसम्बन्ध से तथा कर्म्म के साथ देवताओं के सम्बन्ध से निर्णय किया जाता है; इसी कारण अधिदैव अर्थ प्रायः आधिभौतिक अर्थ और आध्यात्मिक अर्थ का पोषक होता है। सुतरां आधिदैविकं अर्थ सर्व्वसाधारण के लिये बहुतही जटिल होजाता है। यही कारण है कि ज्ञानवान् महापुरुषगण सर्व्वसाधारण के लिये आधिभौतिक अर्थ और उच्चश्रेणी के जिज्ञासुओं के लिये आध्यात्मिक अर्थ को ही लाभदायक और आनन्दप्रद समझते हैं। ब्रह्मानन्द के विकाश के लिये ही दृश्यरूपी जगत् की उत्पत्ति हुआ करती है। विना द्वैत के आनन्द का पूर्ण अनुभव असम्भव है क्योंकि सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् का आनन्द भाव उनके चित् और सत् भाव में व्यापक है। चित् भाव और सत् भाव का अनुभव जगत् में भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से प्रकट है। स्थावर और जङ्गमरूपी दो प्रकार की सृष्टि इसी का फल है। परन्तु आनन्दभाव विना सत् और चित् दोनों की सहायता के अनुभव में नहीं आता। इसी कारण जगत् में भी विना द्वैत के आनन्द का अनुभव पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। इसी गभीर विज्ञान के आश्रय से तत्त्वज्ञानी महापुरुषों ने निर्णय किया है कि ब्रह्मानन्द के विकाश के लिये ही लीलामयी महामाया ने जगत् को प्रसव किया है अतः सच्चिदानन्दमय ब्रह्म में ब्रह्मशक्ति महामाया की सहायता से जगदुत्पत्तिकारणरूपी मधुर मुसकान परमानन्द-

प्रद प्रथम मुस्काना है। जगत् की स्थिति के लिये ज्ञान आनन्द और शान्तिप्रद जो श्रीभगवान् विष्णु का मुस्काना है रूपान्तर में वही द्वितीय मुस्काना हैं। सृष्टि कार्य्य में ब्रह्मा की चिन्ताशक्ति और प्रलय कार्य्य में रुद्र की रोषशक्ति विज्ञानसिद्ध है। केवल सत्त्वगुणमय विष्णु के मधुर मुस्कानयुक्त सात्त्विक भावसे ही जगत की सुरक्षा हुआ करती है। यही जगत् की स्थिति का परमानन्दमय मधुररहस्य है। जगद्धाता जगत्पाता जगन्नियन्ता श्रीभगवान् की मधुर मुस्कान जब प्रकट होती है तबही घोर तमोमयी रजनी का लय होकर ज्ञान आनन्द और चैतन्यप्रद सूर्य्य भगवान् का उदय होता है। भक्तमनोमन्दिरविहारी जीवत्रितापहारी दयालु श्रीहरि का जब मधुर मुस्कान आर्त्त जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त के हृदय में प्रतिफलित होता है तबही वह भाग्यवान् भक्त अपने हृदय की तमोमयी निशा को दूर करके ज्ञानरूपी सूर्य्य के प्रकाशद्वारा ज्ञानी भक्त बनकर परमानन्द के उपभोग करने में समर्थ होजाता है। इसी कारण श्रीभगवान् ने निज मुख से कहा है कि:—" ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। " अर्थात् ज्ञानी भक्त मेराही रूप है। जब रोगशय्याशायी मुमूर्षु जीव जरा रोगआदि द्वारा व्यथित होकर अपनी अन्तिम शय्यापर छटपटाया करता है, उस समय न आत्मीय स्वजनों की सेवा और न वैद्यों की औषधि उसके दुःख की कुछ भी शान्ति करने में समर्थ होती है तब दीनसखा कौन चुपके से आकर उसके हृदयाकाश में मधुर मुस्कावन से कहता है कि क्या चिन्ता है

यह तुम्हारा शरीर तो नाशवान्ही है तुम मेरेहो इधर देखो तुम्हारे सब दुःख दूर हो जायँगे; वस्तुतः हृदयाकाश-स्थित उस मधुर मुस्कावन को देखतेही उस जीव के सब दुःख दूर होजाते हैं और आनन्द और शान्तिपूर्व्वक वह शरीर छोड़ने में समर्थ होता है। धर्मात्मा पुरुष को जब स्वधर्म्म पालन करने में बड़ीही कठिनता आपड़ती है तब उसके हृदयाकाश में धर्म्मप्रसाद की ज्योति विकसित करके कौन मन्द मुस्कावन से हंसता हुआ उसके धर्म्म के पूर्ण करने में सहायक बनता है। कर्म्मयोगी जब अपने निष्काम कर्म्मव्रत के पालन करते करते कभी दम्भ के बहकाने और कभी कामना के लुभाने से विचलित होने लगता है तो उसके हृदयपटल में मन्द मन्द हंसते हुए कौन कहने लगते हैं कि मुझे न भूलो तो तुम्हें कोई बाधा न दे सकेगा। भक्त जब आलस्य में फँसकर प्रेमिक के कर्त्तव्य को भूलने लगता है और आत्मनिर्भर होता हुआ अपने प्यारे से विमुख होने लगता है तब कौन मनोहर मूर्त्ति धारण करके अपनी मधुर मुस्कावनी द्वारा उसका हाथ पकड़के उसको अग्रसर करता है और उसको नीचे गिरने नहीं देता। इसी प्रकार योगानुष्ठानका अधिकारी ज्ञानी अहङ्कार आदि के वशीभूत होकर जब विपथगामी होने लगता है तो कौन जीवचिरसखा उसके सन्मुख उपस्थित होकर मधुर मुस्-कावन से कहने लगता है कि घबड़ाओ नहीं तुम्हारा गन्तव्य पथ यह है। यही परमात्मा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र की नित्य लीलामय मधुर मुस्कावन का रहस्य है॥ १०॥

महामण्डल ग्रन्थमाला का

विज्ञापन।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल के शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा शास्त्रीय ग्रन्थ प्रकाशित करने का विराट् आयोजन किया गया है। विना उपयुक्त शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रकाश के और विना हिन्दी भाषा की पुष्टि के हिन्दू जाति का कल्याण होना असम्भव है।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल के व्यवस्थापक श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज की सहायता से काशी के प्रसिद्ध विद्वानों के द्वारा सम्पादित होकर प्रामाणिक सुबोध और सुदृश्यरूप से यह ग्रन्थमाला निकलेगी। इन ग्रन्थों में से कुछ हिन्दीग्रन्थ छपकर प्रकाशित होचुके हैं जिनकी नामावली नीचे दी जाती है। इनके अतिरिक्त सांख्यदर्शन, कर्ममीमांसादर्शन, दैवीमीमांसादर्शन, योगदर्शन आदि के भाष्य, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता आदि ग्रन्थ बनचुके हैं और उनमें से कई ग्रन्थ छप रहे हैं। श्रीमद्भगवद्गीता पर अपूर्व हिन्दीभाष्य का प्रथम खण्ड यह छपा है और दूसरा खण्ड छप रहा है। इस प्रकार की गीता आज तक किसी भाषा में भी प्रकाशित नहीं हुई है।

सदाचारसोपान। यह पुस्तक कोमलमति बालक-बालिकाओं की धर्म्मशिक्षा के लिये प्रथम पुस्तक है। बङ्गला और उर्दू भाषाओं में भी इसका अनुवाद छप चुका है और सारे भारतवर्ष में इसकी बहुत कुछ उपयोगिता मानी गई है। इसकी पांच आवृत्तियाँ छप चुकी हैं। अपने बच्चों की धर्म्मशिक्षा के लिये इस पुस्तक को हर एक हिन्दू को मँगवाना चाहिये। मूल्य प्रत्येक भाषा की पुस्तक का -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान। कोमलमति कन्याओं के धर्म्मशिक्षा के लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। इस पुस्तक की बहुत कुछ प्रशंसा हुई है। हिन्दूमात्र को अपनी अपनी कन्याओं को धर्म्मशिक्षा देने के लिये यह पुस्तक मँगवाना चाहिये। बङ्गला में भी छप चुकी है। मूल्य प्रत्येक भाषा की पुस्तक का -) एक आना।

धर्म्मसोपान। यह धर्म्मशिक्षाविषयक बड़ी पुस्तक है। बालकों को इससे धर्म्म का साधारण ज्ञान भली भांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक क्या वृद्ध स्त्री पुरुष सब के लिये बहुतही उपकारी है। धर्म्मशिक्षा पाने की इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तक को मँगावें। मूल्य ।) चार आना।

ब्रह्मचर्य्यसोपान। ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुतही उपयोगी है। सब ब्रह्मचारीआश्रम, पाठशाला और स्कूलों में इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये। इसकी दो आवृत्ति छप चुकी हैं। मूल्य =) तीन आना।

राजशिक्षासोपान। राजा महाराजा और उनके कुमारों को धर्म्मशिक्षा देने के

लिये यह ग्रन्थ बनाया गया है। परन्तु सर्वसाधारण की धर्म्मशिक्षा के लिये भी यह ग्रन्थ बहुतही उपयोगी है। इसमें सनातनधर्म्म के अङ्ग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान। यह पुस्तक उपासना और साधनशैली की शिक्षा प्राप्त करने में बहुतही उपयोगी है। बालक बालिकाओं को पहले ही से इस पुस्तक को पढ़ाना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि बालक और वृद्ध समानरूप से इससे साधनविषयक शिक्षा लाभ करसक्ते हैं। यह बङ्गला भाषा में भी छपी है।

मूल्य प्रत्येक भाषा की पुस्तक का =) दो आना।

शास्त्रसोपान। सनातनधर्म्म के शास्त्रों का संक्षेप सारांश इस ग्रन्थ में वर्णित है। सब शास्त्रों का विवरण कुछ समझने के लिये प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बी के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। मूल्य I) चार आना।

धर्म्मप्रचारसोपान। यह ग्रन्थ धर्म्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितों के लिये बहुतही हितकारी है। मूल्य ≡) तीन आना।

उपरिलिखित सब ग्रन्थ धर्म्मशिक्षाविषयक हैं। इस कारण स्कूल कालेज व पाठशालाओं को इकट्ठे लेने पर कुछ सुविधा से मिल सकेंगे और पुस्तकविक्रेताओं को इनपर योग्य कमीशन दिया जायगा।

उपदेशपारिजात। यह संस्कृतगद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म्म क्या है, धर्म्मोपदेशक किसको कहते हैं, सनातनधर्म्म के सब शास्त्रों में क्या क्या विषय हैं, धर्म्मवक्ता होने के लिये किन किन योग्यताओं के होने की आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थ में संस्कृतविद्वान्मात्र को पढ़ना उचित है और धर्म्मवक्ता, धर्म्मोपदेशक, पौराणिक, पण्डित आदि के लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य II) आठ आना।

इस संस्कृतग्रन्थ के अतिरिक्त संस्कृतभाषा में योगदर्शन, सांख्यदर्शन, दैवीमीमांसादर्शन आदि दर्शनों का भाष्य, मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता, हरिहरब्रह्मसामरस्य, योगप्रवेशिका, धर्म्मसुधाकर, श्रीमधुसूदनसंहिता आदि ग्रन्थ छप रहे हैं और शीघ्रही प्रकाशित होनेवाले हैं।

कल्किपुराण। कल्किपुराण का नाम किसने नहीं सुना है। वर्तमान समय के लिये यह बहुतही हितकारी ग्रन्थ है, विशुद्ध हिन्दीअनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्म्मजिज्ञासुमात्र को इस ग्रन्थ को पढ़ना उचित है। मूल्य १) एक रुपया।

योगदर्शन। हिन्दीभाष्य सहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। मूल्य २) दो रुपया।

नवीनदृष्टि में प्रवीण भारत। भारतके प्राचीन गौरव और आर्य्यजातिका महत्त्व जानने के लिये यह एकही पुस्तक है। मूल्य १) एक रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य। इस ग्रन्थरत्न में सात अध्याय हैं। यथा— आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिविषय का असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बी को इस ग्रन्थ को पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्ष में समानरूप से हुआ है। बङ्गला भाषा में यह ग्रन्थ अनुवादित होकर छप चुका है। धर्म्म के गूढ़ तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरह से बताये गये हैं।

मूल्य प्रत्येक भाषा की पुस्तक का १) एक रुपया।

निगमागमचन्द्रिका। प्रथम और द्वितीय भाग की दो पुस्तकें धर्म्मानुरागी सज्जनों को मिल सक्ती हैं। प्रत्येक का मूल्य १) एक रुपया।

पहलेके पांच साल के पांच भागों में सनातनधर्म्म के अनेक गूढ़ रहस्यसम्बन्धीय ऐसे २ प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं कि आजतक वैसे धर्म्मसम्बन्धीय प्रबन्ध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। जो सनातनधर्म्मके अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें वे इन पुस्तकों को मँगावें। मूल्य पांचों भागों का २॥) ढाई रुपया।

भक्तिदर्शन। श्रीशाण्डिल्यसूत्रों पर बहुत विस्तृत हिन्दीभाष्य सहित और एक अति विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है। हिन्दी का यह एक असाधारण ग्रन्थ है। इस प्रकार का भक्तिसम्बन्धीय ग्रन्थ हिन्दी में पहले प्रकाशित नहीं हुआ था। भगवद्भक्ति के विस्तारित रहस्यों का ज्ञान इस ग्रन्थ के पाठ करने से होता है। भक्तिशास्त्र के समझने की इच्छा रखनेवाले और श्रीभगवान् में भक्ति करनेवाले धार्म्मिकमात्र को इस ग्रन्थ को पढ़ना उचित है। मूल्य १) एक रुपया।

गीतावली। इसको पढ़ने से सङ्गीतशास्त्र का मर्म्म थोड़े में ही समझ में आ सकेगा और इसमें अनेक अच्छे अच्छे भजनों का भी संग्रह है। सङ्गीतानुरागी और भजनानुरागियोंको अवश्य इसको लेना चाहिये। मूल्य ॥) आठ आना।

गुरुगीता। इस प्रकार की गुरुगीता आजतक किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें गुरुशिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राजयोगों का लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्त्तव्य, परमतत्त्व का स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूप से हैं। मूल और स्पष्ट सरल व सुमधुर भाषानुवाद सहित यह ग्रन्थ छपा है। गुरु और शिष्य दोनों का उपकारी यह ग्रन्थ है। बङ्गलानुवाद भी छप चुका है। मूल्य प्रत्येक भाषा की पुस्तक का =) दो आनामात्र।

मन्त्रयोगसंहिता। योगविषयक ऐसा अपूर्व्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं

हुआ है। इसमें मन्त्रयोग के १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरह से वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे परम लाभ उठासक्ते हैं। इसमें मन्त्रों का स्वरूप और उपास्य निर्णय बहुत अच्छा किया गया है। घोर अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोध के दूर होने को यह एकमात्र ग्रन्थ है। इसमें नास्तिकों के मूर्तिपूजा, मन्त्रसिद्धि आदि के विषय में जो प्रश्न होते हैं उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रुपयामात्र।

श्रीधर्मकल्पद्रुम। हिन्दूधर्म्म का अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दूजाति की पुनरुन्नति के लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयों की जरूरत है उनमें से सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्म्मग्रन्थ की थी कि जिसके अध्ययन–अध्यापन द्वारा सनातनधर्म्म का रहस्य और उसका विस्तारित स्वरूप तथा उसके सब अङ्ग उपाङ्गों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होसके और साथही साथ वेद और सब शास्त्रों का आशय और वेद और सब शास्त्रों में कहे हुए विज्ञानों का यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासु को भली भांति विदित हो, इसी गुरुतर अभाव के दूर करनेके अर्थ भारत के प्रसिद्ध धर्म्मवक्ता और श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के उपदेशक महाविद्यालय के दर्शनशास्त्र के अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी ने इस ग्रन्थ को प्रणयन करना प्रारम्भ किया है। इसमें वर्त्तमान समय के आलोच्य सभी विषय विस्तारितरूप से दिये जायँगे। पञ्चमहायज्ञ का विज्ञान, वेद की अपौरुषेयता तथा मन्त्र ब्राह्मण और उपनिषद् का पूर्ण रहस्य, पुराण के आख्यानों का गूढ़विज्ञान, दर्शनों का संक्षेप रहस्य, वर्णाश्रमधर्म्म का पूरा तत्त्व, आर्य्यजाति में पातिव्रत्यधर्म्म की पूर्ण महिमा का रहस्य, उपासना का पूर्ण विज्ञान, सगुण निर्गुण अवतार आदि उपासना का तत्त्व, मन्त्रयोग हठयोग लययोग राजयोग का विज्ञान और अङ्ग, आर्य्यजाति व समाज की उन्नति का उपाय, पितृपूजा श्राद्ध परलोक आदि का रहस्य, षोडश संस्कार का विज्ञान, सृष्टि स्थिति प्रलय और मुक्ति का तत्त्व, जीव ब्रह्म ईश्वर का स्वरूप, जीवन्मुक्ति और संन्यास का तत्त्व, प्रवृत्ति-निवृत्ति-तत्त्व, सदाचारमहिमा, पुरुषशिक्षा और स्त्रीशिक्षा, सम्प्रदाय पन्थ और उपधर्म्मसमीक्षा, संन्यासी के साथ जगत्सेवा का सम्बन्ध इत्यादि सभी विषय पूर्ण वर्णन किये जायँगे जिससे आजकल के अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्म्मग्रन्थों और धर्म्मप्रचार के द्वारा जो हानि होरही है वह सब दूर होकर यथार्थरूप से सनातन वैदिकधर्म्म का प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्न में साम्प्रदायिक पक्षपात का लेशमात्र नहीं रहा है और निष्पक्षरूप से सब विषय प्रतिपादन किये गये हैं, जिससे सकल प्रकार के अधिकारी कल्याण प्राप्त करसकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि हिन्दूशास्त्र के सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाण और युक्ति के सिवाय आजकल की सायन्सविद्या के द्वारा भी प्रतिपादन किये गये हैं जिससे आजकल के नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठासकें।

इसकी भाषा सरल मधुर और गम्भीर है । यह ग्रन्थ चौंसठ अध्याय और आठ समुल्लासों में पूर्ण होगा और यह बृहत् ग्रन्थ जो रायल साइज़ के तीन हज़ार पृष्ठ से अधिक होगा, आठ खण्ड में प्रकाशित होगा । इसके चार खण्ड प्रकाशित होचुके हैं । प्रथम और द्वितीय खण्ड का रायल एडीशन जो बहुत बढ़िया कागज़ पर छपा है और सुन्दर जिल्द बँधी हुई है उसका मूल्य ५) पांच रुपया है और सर्व्वसाधारण के उपयोगी अच्छे और सस्ते कागज़ पर साधारण एडीशन प्रथम खण्ड का मूल्य २) रुपया है । द्वितीय खण्ड का मूल्य १॥) तृतीय खण्ड का मूल्य २) और चतुर्थ खण्ड का मूल्य २) है और पञ्चमखण्ड यन्त्रस्थ है ।

तत्त्वबोध । मूल भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित । यह वेदान्त का प्रथम और अपूर्व्व मूल ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्य्यजी महाराज का बनाया हुआ है । तत्त्व-ज्ञानेच्छु सज्जन अवश्य मँगावें । इसका बंगलानुवाद भी छप चुका है ।

मूल्य प्रत्येक भाषा की पुस्तक का =)

संन्यासगीता । श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के द्वारा संन्यासियों के लिये संन्यास-गीता, साधकों के लिये गुरुगीता और पञ्च उपासकों के लिये पञ्चगीताएँ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित होरही हैं । इनमें से गुरुगीता और संन्यासगीता प्रकाशित होचुकी है सूर्य्यगीता छप रही है । इस संन्यासगीता में सब सम्प्रदायों के साधु और संन्यासियों के लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं । संन्यासिगण इसके पाठ करने से विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे और अपना कर्त्तव्य जान सकेंगे । गृहस्थों के लिये भी यह ग्रन्थ धर्म्मज्ञान का भण्डार है । मूल्य ॥।) बारह आना ।

दैवीमीमांसादर्शन प्रथम भाग । वेद के तीन काण्ड हैं यथाः—कर्म्म-काण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । ज्ञानकाण्ड का वेदान्तदर्शन, कर्म्मकाण्ड का जैमिनीदर्शन और भरद्वाजदर्शन और उपासनाकाण्ड का यह अङ्गिरादर्शन है । इसका नाम दैवीमीमांसादर्शन है । यह ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है । इसके चार पाद हैं । यथा—रसपाद, इस पाद में भक्ति का विस्तारित विज्ञान वर्णित है, दूसरा सृष्टिपाद, तीसरा स्थितिपाद और चौथा लयपाद, इन तीनों पादों में दैवीमाया, देवताओं के भेद, उपासना का विस्तारित वर्णन और भक्ति और उपासना से मुक्ति की प्राप्ति का सब कुछ विज्ञान वर्णित है । इस प्रथम भाग में इस दर्शनशास्त्र के प्रथम दो पाद हिन्दी अनुवाद और हिन्दी भाष्य सहित प्रकाशित हुए हैं । मूल्य १॥) डेढ़ रुपया ।

मैनेजर निगमागम बुकडिपो

महामण्डल आफ़िस

जगत्गंज-बनारस ।

महामण्डल ग्रन्थमाला के उद्देश्य।

धर्मप्रचार के लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। (१) उपदेशकों द्वारा धर्मप्रचार करना, और (२) धर्मरहस्य सम्बन्धी मौलिक पुस्तकों का उद्धार व प्रकाश करना। महामण्डल ने प्रथम मार्ग का अवलम्ब आरम्भ से ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डल ने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत कर लिया है। दूसरे मार्ग के सम्बन्ध में भी यथायोग्य उद्योग आरम्भ से ही किया जा रहा है। विविध ग्रन्थों का संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओं का सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थोंका आविष्कार करना, इस प्रकार के उद्योग महामण्डल ने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है परन्तु अभीतक यह कार्य सन्तोषजनक नहीं हुआ है। महामण्डलको अब मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होते ही इस विभाग को उन्नत करने का उसने विचार किया है। उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होने के लिये उसी विषयकी पुस्तकों का प्रचार होना परम आवश्यक है। क्योंकि वक्ता एक दो बार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकों का सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवा सब प्रकार के अधिकारियों के लिये एक ही वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तक-प्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतनेही अधिकार की पुस्तक पढ़ेगा और महामण्डल भी सब प्रकार के अधिकारियों के योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा। सारांश, देशकी उन्नति के लिये, भारतगौरव की रक्षा के लिये और मनुष्यों में मनुष्यत्व उत्पन्न करने के लिये महामण्डल ने अब पुस्तक प्रकाशन विभाग को अधिक उन्नत करने का विचार किया है और उसकी सर्वसाधारण से प्रार्थना है कि वे ऐसे सत्कार्य में इसका हाथ बटावें एवम् इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति करलेने को प्रस्तुत हो जावें।

महामण्डल ग्रन्थमाला की नियमावली।

जो पुस्तक-मालाएँ महामण्डल से प्रकाशित होंगी; उनके कम से कम २००० स्थायी ग्राहक होने चाहियें। उन्हें सब पुस्तकें कुछ स्वल्प मूल्य में दी जायँगी। यदि महामण्डल की हरएक शाखासभा

और महामण्डल से सम्बन्धयुक्त अन्य सभाएँ अपने मेम्बरों में से १०-१५ भी ग्राहक संग्रह कर देंगी तो यह काम सहज होसकता है।

अवैतनिक प्रचारकों को उचित कमीशन दिया जायगा और जिन सभाओं द्वारा जितने ग्राहक संग्रह होंगे, उनको भी उसी हिसाब से सहायता मिलेगी, जिससे इस विभाग की उन्नति के साथ ही साथ उस सभा की भी अर्थवृद्धि हो। इसमें केवल शारीरिक श्रमकी ही आवश्यकता है।

जो सभा या जो प्रचारक सर्वोत्तम कार्य करेंगे, अर्थात् ग्रन्थ-प्रचार कार्य में अधिक सफलता प्राप्त करेंगे, उन्हें श्रीमहामण्डल के वार्षिकोत्सव पर विशेष पारितोषिक द्वारा, मेडल आदि द्वारा और अन्य प्रकार से भी कार्य के महत्त्व के अनुसार सम्मानित किया जायगा।

महामण्डल की सम्बन्ध युक्त सभी सभाओं से निवेदन है कि वे अपने सभाभवनों में या नगरों में-जहां उचित समझें-इस शास्त्र प्रकाश विभाग की भी सभा की ओर से एक एक शाखा खोल दें जिससे उनके उद्देश्यों की पूर्ति शीघ्र हो सकेगी, धर्म-प्रचार सुलभ होगा और सभा की सम्पत्ति की वृद्धि भी होगी। हर एक सभा हमें दो प्रकार से सहायता पहुँचा सकती है। (१) हमारी ग्रन्थमाला के स्थिरग्राहक बना कर, और (२) ग्रन्थमाला की तथा इस विभाग द्वारा प्रकाशित अन्यान्य पुस्तकों की फुटकर बिक्री करके। दोनों प्रकार की सहायता पहुँचानेवाली सभाओं को आर्थिक सहायता दी जायगी। हमारी सभाओं के मंत्री इस प्रकार की सभा खोलने के लिये पत्र द्वारा आवेदन करें तो उन्हें सहर्ष अनुमति और सहायता दी जायगी एवम् इस प्रकार से जो सभाएँ दर्ज रजिस्टर होंगी, उनके पास फ़ार्म आदि नियमित समय पर पहुँच जायँगे।

स्थिर ग्राहकों के नियम।

इस समय हमारी ग्रन्थमाला में निम्न लिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

मंत्रयोगसंहिता भाषानुवाद सहित	...	...	१)
भक्तिदर्शन भाषाभाष्य सहित	...	...	१)
योगदर्शन भाषाभाष्य सहित	...	...	२)

इनमें से जो कम से कम ४) मूल्य की पुस्तकें खरीदेंगे अथवा स्थिर ग्राहक होने का चन्दा १) भेज देंगे, उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होने वाली सब पुस्तकें $\frac{3}{4}$ मूल्य में दी जायँगी।

स्थिर ग्राहकों को माला में ग्रथित होनेवाली हर एक पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तक इस विभाग द्वारा छापीजायगी, वह एक विद्वानों की कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी।

हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमारे कार्यालय से, अथवा जहां वह रहता हो वहां हमारी सभा हो तो वहां से, स्वल्प मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

जो धर्म्मसभा इस धर्म्मकार्य्य में सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमाला के स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजने की कृपा करें।

त्रिभावात्मक हिन्दी भाष्य सहित श्रीमद्भगवद्गीता का दूसरा खण्ड, दैवीमीमांसा का दूसरा भाग, धर्म्मकल्पद्रुम पांचवां खण्ड, हिन्दी अनुवाद सहित सूर्य्यगीता और हठयोग संहिता, योगदर्शन का नवीन हिन्दी भाष्य और साधनप्रदीप यन्त्रस्थ हैं।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर,

सहकारि अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,

जगतगंज, बनारस।

श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभाण्डार।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशी में दीन दुःखियों के क्लेशनिवारणार्थ यह सभा स्थापित की गई है। इस सभा के द्वारा अति विस्तृत रीति पर शास्त्रप्रकाश का कार्य्य प्रारम्भ किया गया है। इस सभा द्वारा धर्म्मपुस्तिका पुस्तकादि यथासम्भव रीति पर विना मूल्य वितरण करने का भी विचार रक्खा गया है। शास्त्रप्रकाश की आमदनी इसी दान-भाण्डार में दीन दुःखियों के दुःखमोचनार्थ व्यय की जाती है। इस सभा मे जो दान करना चाहें या किसी प्रकार का पत्राचार करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें।

सेक्रेटरी—श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभाण्डार,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
हरिधाम, जगत्गंज, बनारस (छावनी).

निगमागम बुक्डिपो।

यह पुस्तकालय श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशी के श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभाण्डार के द्वारा स्थापित हुआ है। इस बुक्-डिपो के स्थापन करने के निम्नलिखित उद्देश्य हैं।

(क) हिन्दूजाति के धर्म्मकेन्द्र और महातीर्थ श्रीकाशीपुरी में एक स्वजातीय बुक्डिपो क़ायम करना।

(ख) इस पुस्तकालय को शनैः शनैः ऐसा बना देना कि जिससे हिन्दू-जाति की सब भाषाओं के धर्म्मग्रन्थ इसी एक स्थान में आसानी और स्वल्पमूल्य से मिल सकें।

(ग) यह पुस्तकालय अपना सम्बन्ध किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ न रक्खे, हिन्दूधर्म की उन्नति ही इसका लक्ष्य हो और इसका लाभांश शास्त्रप्रचारार्थ और दीन दुःखियों के दुःखनिवारणार्थ व्यय हो।

(घ) यह हिन्दूजाति का एक जातीय पुस्तकभाण्डार समझा जाय।

मैनेजर—
निगमागम बुक्डिपो,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
महामण्डलभवन; जगत्गंज, बनारस.

THE ARYAN BUREAU OF SEERS & SAVANTS.

Established under the distinguished Patronage of the Leaders of

SRI BHARAT DHARMA MAHAMANDAL.

IT is in contemplation to form a Committee (Bureau) with the object, amongst others, to establish a connecting link, through the vehicle of correspondence, with those Scholars and Literary Societies that take an interest in the questions of Theology, Hindu Philosophy and Sanskrit literature all over the enlightened world.

To fulfil the above objects the Bureau intends to take up the following :—

1. To receive and answer questions through *bonâ fide* correspondence regarding Hindu Religion and Science, Codes, Practical Yoga, Vaidic Philosophy and general Sanskrit literature.

2. To exhibit to the enlightened world the catholicity of the Vaidic doctrines, and its fostering agency as universal helper towards moral and spiritual amelioration of nations.

3. To render mutual help as regards comparative researches in Science, Philosophies and Literatures both Oriental and Occidental

4. To welcome such suggestions as may emanate from learned sources all over the world conducive to the improvement and benefit of humanity.

5. And to do such other things that may lead to the fulfilment of the above objects or any of them.

RULES OF THE SOCIETY.

1. There are to be two classes of Members, General and Special.

2. The Memberships are to be all honorary.

3. Those who will sympathise with our object, and enlist their names and addresses in the Register of the Bureau as co-operators will be considered as General Members.

4. Special Members are to be those who shall be qualified to answer points of their respective religions.

5. The Membership of the Bureau will be irrespective of caste, creed and nationality.

6. The spiritual questions will be responded to through correspondence as well as in Debate Meetings in the office of the Bureau on dates fixed for the purpose.

7. There is to be a Secretary and an Assistant Secretary to be appointed by the Founder of the Bureau (both posts honorary).

8. All the books, tracts and leaflets that will be published concerning the Bureau will be forwarded free to all the Members of the Bureau.

All correspondence to be addressed to—

SWAMI DAYANAND, SECRETARY,
Aryan Bureau of Seers and Savants,
C/o Sri Mahamandal Office,
BENARES CITY (India).

N. B.—Oriental scholars, all over the world are invited to send their names and addresses to facilitate mutual communication and despatch of necessary papers.